सत्संग भवन अम्बाला नगर-7

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

गीता-चिन्तन

—लेखक—

'स्वामी श्रीगीतानन्दजी महाराज'

सत्संग भवन

अम्बाला नगर-7

प्रकाशक तथा मुद्रक :—

प्रधान—श्रीगीता सत्संग सभा (Regd.)

सत्संग भवन, अम्बाला नगर ।

(प्रथम संस्करण)

मई, १९८१

मुद्रणालय—
'हितैषी प्रैस'
सत्संग भवन
गीता नगरी
अम्बाला नगर—7

क्रम	विषय	पृष्ठ
७५.	ज्ञान प्राप्त-दुःख समाप्त	६१
७६.	संशयात्मा—दुरात्मा	६५
७७.	आत्मवान्—कर्मों में अलिप्त	७०
७८.	ज्ञान प्रसारण-संशय निवारण	७३
७९.	संन्यासी की परिभाषा	७६
८०.	द्वन्द्व-रहित—प्रभु-सहित	३८०
८१.	एक ही साध्य के सब साधन	३८३
८२.	कर्म में अकर्म	३८७
८३.	अनेक में एक का दर्शन	३९१
८४.	तत्त्ववेत्ता—कर्म में अकर्मी	३९४
८५.	अनासक्त कर्म	३९८
८६.	कर्मयोग—साधन न कि साध्य	४०१
८७.	प्रभु-परायण सदा मुक्त	४०४
८८.	समदर्शी	४०६
८९.	अन्तवान्-दुःखवान्	४१३
९०	काममुक्त—ईशयुक्त	४१५
९१.	सर्वहिताय—सर्वसुखाय	४२०
९२.	मन अधीन—प्रभु में लीन	४२४
९३.	विकार समाप्त-संसार समाप्त	४२८
९४.	भगवान्-सर्वहितैषी	४३२

क्रम	विषय	पृष्ठ

भूमिका

प्रिय गीता-ज्ञानेप्सु !

मुसीबत से सबको बचाती है गीता,
पयाम-ए सदाकत सुनाती है गीता
जो गिरते हैं गल्ती से इस सर-ज़मीं पर,
उठा कर फ़लक पर बिठाती है गीता ।।

आज के इस विचित्र कलियुग में जबकि चारों ओर भीषण अत्याचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, कदाचार एवं स्वेच्छाचार का विस्तार हो रहा है, विश्व की स्थिति बहुत शोचनीय हो रही है, सर्वत्र दम्भ-दर्प, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, छीना-झपटी, मार-काट का बोलबाला हो रहा है; राग-द्वेष, स्वार्थ-परायणता, भोग-प्रवृत्ति और आसुरी-सम्पदा बढ़ती ही जा रही है, अधिकांश लोगों के जीवन का उद्देश्य केवल खाना, पीना और विलासता ही रह गया है, कर्तव्य-पालन में किसी की भी रुचि नहीं रही, अन्याय-

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

❋ विषय सूची ❋

क्रम	विषय	पृष्ठ
१७.	निष्काम कर्म	११०
१८.	बोध की परिभाषा	११८
१९.	फलेच्छुक-निकृष्ट	१२५
२०.	कर्मों में दक्षता	१३१
२१.	तृप्ति-अपनी ही आत्मा में	१३७
२२.	राग-भय-क्रोध से अतीत	१४०
२३.	दर्शन प्राप्त-संसार समाप्त	१४४
२४.	मानव का पतन	१४८
२५.	मन व्यवस्थित-दुःख विसर्जित	१५२
२६.	अन्तर्मुखी सदा सुखी	१५७
२७.	सब तज हरि भज	१६१
२८.	कर्महीन कोई दीखे नाहिं	१६५
२९.	यज्ञ के लिये कर्म	१६९
३०.	गीता-जयन्ती महोत्सव	१७३
३१.	लेता है पर देता नहीं	१८०
३२.	यज्ञ में भगवान	१८४
३३.	इन्द्रियार्थ-जीवन व्यर्थ	१८८
३४.	आत्मवित-परितृप्त	१९३
३५.	निरासक्त सदा मुक्त	१९९
३६.	लोकसंग्रहार्थ कर्म	२०३

क्रम	विषय	पृष्ठ

पूर्वक एक दूसरे के धन को हथिया कर सभी अपना उल्लू सीधा करने में लगे हुए हैं, मानवता दिन-प्रति-दिन अधोगति की ओर उतरती जा रही है—ऐसी विकट एवं जटिल परिस्थितियों में मानव जाति को सच्चा मार्ग दर्शाने, जीवन का सही अर्थ समझाने तथा जीवन के परम व चरम लक्ष्य से अवगत करवाने में यदि कोई सफल हो सकता है तो वह है—'अनुपम-उपकारकारिणी साक्षात् भगवत्-वाणी श्रीमद्भगवद्-गीता।'

गीतान्वेषकों का मत है कि आधुनिक काल में जो अनेकानेक जटिल समस्यायें नित्यप्रति सीमित रूप में व्यक्ति और व्यापक रूप में समाज के समक्ष उपस्थित होती रहती हैं और बड़ों-बड़ों की बुद्धि को भी चकरा देती हैं, उनके समाधान के लिये श्रीगीताजी में पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। परन्तु खेद है कि ऐसे अवसरों पर गीता से पूर्ण सहायता नहीं ली जाती। इस त्रुटि की पूर्ति के लिये गीता-प्रचार ही एकमात्र उपाय है।

सुधि पाठकगण! 'सत्सङ्ग भवन' में गत २७ वर्षों से निरन्तर गीता-प्रचार का कार्य अत्यन्त उत्साहपूर्वक हो रहा है। 'परम श्रद्धेय सद्गुरुदेव स्वनामधन्य स्वामी श्रीगीतानन्दजी महाराज' की अध्यक्षता में यह

कार्य उत्तरोत्तर उन्नति की ओर ही अग्रसर हो रहा है। १९५४ से लेकर अद्यावधि तक 'पूज्य महाराज श्री' इसी एक ही शास्त्र द्वारा प्रातः-सायं गीता-प्रवचनों की अमृत वृष्टि कर रहे हैं और दूर-दूर से गीता-प्रेमी भी मन्त्र-मुग्ध हुए-हुए बड़ी श्रद्धापूर्वक इन प्रवचनों का श्रवण करके अपनी आध्यात्मिक पिपासा को शान्त कर रहे हैं। 'महाराज श्री' का साहसपूर्ण मत है कि केवल गीता-शास्त्र ही अपने-आप में पूर्णता लिये हुए है, इसके अतिरिक्त किसी भी शास्त्र का सत्सङ्ग अपूर्ण है। सत्य तो यह है कि आपका सम्पूर्ण जीवन ही मानो गीताकी साकार प्रतिमूर्ति बन चुका है। गीता-सम्बन्धी कई ग्रन्थों एवं गीतों की रचना भी आप कर चुके हैं जिनमें 'गीता-प्रश्नोत्तरी', 'गीता-भजनावली', 'गीताके मोती', 'गीता-मन्थन', 'गीता-महिमा', 'गीता-वचनामृत' प्रभृति प्रमुख हैं। आप द्वारा दिये जा रहे प्रातः साय के गीता-प्रवचनों का संकलन भी एक विशाल ग्रन्थ 'गीता-प्रवचन' के रूप में प्रकाशित किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त भी आपने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। यथा—'रामायण तत्त्व', 'रामायण प्रश्नोत्तरी', 'जिज्ञासु-प्रश्नोत्तरी', 'सत्सङ्ग-प्रश्नोत्तरी', 'मस्त-कलन्दर', 'योग-वाशिष्ठ तत्त्व', 'दुःख-निवारण', 'मोह-निवारण', 'मन

जीते जग जीत', 'उपयोगी कथायें', 'यूँ बोले भगवान्‌जी' 'वैराग्य चर्चा', 'ज्ञान चर्चा', 'कबीर दोहावली' इत्यादि-इत्यादि।

'साप्ताहिक गीता-उपदेश' के रूप में एक पत्रिका भी आपकी अध्यक्षता में यहीं से निरन्तर प्रकाशित हो रही है जिसकी विशेषता यह है कि इसमें केवल गीता सम्बन्धी लेख ही प्रकाशित किये जाते हैं। गीता-प्रचार के इसी का कार्य और भी विस्तार करने तथा गूढ़ गीता-ज्ञान को सरल बनाकर जन साधारण तक पहुँचाने हेतु *'महाराज श्री'* द्वारा रचित प्रस्तुत ग्रन्थ—'गीता-चिन्तन' अब गीता-प्रेमी पाठकों के कर-कमलों में सहर्ष समर्पित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ में सर्वक्लेशनाशिनी श्रीगीताजी के छठे अध्याय तक के मुख्य श्लोकों पर एक निराले ही ढङ्ग से अत्यन्त रोचक एवं मनः आकर्षक शैली में तथा सरल व स्पष्ट भाषा में नाना प्रकार के दृष्टान्तों का प्रयोग करते हुए कुछ लेख प्रकाशित किये गये हैं जो 'साप्ताहिक गीता-उपदेश' में भी प्रति सप्ताह क्रमशः दिये जा चुके हैं। गीता-प्रेमी जनता की प्रबल माँग का अभिनन्दन करते हुए उन्हीं लेखों को ग्रन्थाकार में सब के कल्याणार्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

बन्धुवर ! यदि आपकी हार्दिक इच्छा है कि हम पशुओं की तरह खाते, पीते और विलासता में मरते हुए ही शरीर को छोड़कर न जायें बल्कि अपना कुछ कल्याण भी करे, परलोक भी बनाकर जायें, सर्व-शक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ परमपिता परमात्मा के लिये अपने जीवन को लगा कर नानाविध दुःखोसे छूट जाये—तो प्रस्तुत ग्रन्थ आपके लिये अत्यन्त उपादेय एव सहायक सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य भी यही है कि आज की मानव-जाति जो दुखों में बुरी तरह ग्रस्त होती जा रही है, उसे सुख की नई दिशा दिखलाई जा सके।

ऐ कल्याणकामी भैया ! यदि सुख चाहते हो, जीवन मे कल्याण चाहते हो तो आपको अपना जीवन गीताजीके अनमोल शिक्षानुसार बनाना ही होगा। गीता-ज्ञानका एक अथाह सागर है। इसके गूढ अर्थोंको समझना भी मामूली बात नही है। इसके लिये परम-आवश्यक हो जाता है कि गीताजी के एक-एक भाव पर गहन चिन्तन किया जाये; जो जितना अधिक गीतार्थों पर चिन्तन करेगा, वह गीता-ज्ञानामृत से उतना ही अधिक लाभान्वित हो पायेगा। इसी लिये इस ग्रन्थ का नाम ही 'गीता चिन्तन' रख दिया गया है ताकि गीता-प्रेमी पाठक केवल पढ़ने तक ही न रह जायें

बल्कि पढ़े हुए भावों पर वारम्बार मनन व चिन्तन करने का भी स्वभाव बना ले।

प्रियवर! जीवन में आपने अनेकों को अजमाया होगा, आजमाये हुए को पुनः पुनः आजमाने में भी शायद आप पीछे नहीं हटे होंगे! परन्तु क्या स्थायी शान्ति मिली? क्या आपका जीवन आपके लिये सुख-प्रद एवं निष्कण्टक बन गया? शायद नहीं!! तो आइये, प्रस्तुत ग्रन्थ को अपना जीवन पथ-प्रदर्शक मान कर इसमें वर्णित अत्यन्त कल्याणकारी एवं जीवन में नवीन बहार व निखार लाने वाले भावों को भी एक बार आज़मा कर देखिये अर्थात् भगवान् जी के अनमोल कथन के अनुरूप भी अपना जीवन बना कर देखिये। सौगन्ध भगवान्‌जीके युगल चरणोंकी! आपके जीवन में आनन्दकी नई लहर आ जायेगी और आपका रोम-रोम 'वन्द्य श्रीगुरुदेवजी' के इन अनमोल शब्दोंको मस्ती में भर कर गुनगुनाने लग जायेगा—

गीता की वाणी से वो ज्ञान मिल गया।
खुशी-खुशी जीनेका सामान मिल गया॥
प्रभु जी की वाणी ने हंसना सिखाया,
दुखों और कष्टों को दूर भगाया।
मुस्कराते रहने का फ़रमान मिल गया;
खुशियों से भरा इक जहान मिल गया॥

अतः अब और विलम्ब न करते हुए आओ, शीघ्र अति शीघ्र दृढ़ सङ्कल्प ले लें कि हम अपने जीवन को गीतामयी बनायेंगे। बुद्धि में गीता जी के अनुसार ही निर्णय करेंगे, मन द्वारा गीताजी की शिक्षा के अनुरूप ही विचार-विमर्श करेंगे और तन के प्रत्येक अङ्ग के द्वारा गीता-भगवती के कथनानुसार ही शुभ एवं लोक-कल्याणार्थ कर्मों का सम्पादन करेंगे। इष्टदेव सर्वे-सर्वा भगवान् श्री कृष्ण जी हम सब को विशेष, अति विशेष शक्ति दें ग्रन्थको पढ़ते-समझते हुए अपने जीवन में अपनावें एवं व्यावहारिक रूप देने की !

जय भगवत् गीते !

—'गीतानुचर'

—लेखक—

'स्वामी श्रीगीतानन्दजी महाराज'

—✻✻—

(१)

भगवान् श्रीकृष्णका अवतार कब और क्यों ?

जाको राखै साइयाँ, मारि सकै न कोय ।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ॥

—✻✻—

कहा करै बैरी प्रबल, जो सहाय रघुबीर ।
दस हजार गजबल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर ॥

श्रीगीताजी में भगवान्‌जी ने अवतार सम्बन्धी जो प्रतिज्ञा की है वह इस प्रकार है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

गीता—४ । ७-८

-अर्थात्-

"हे पार्थ ! जब जब धर्म घटता और बढ़ता पाप ही।
तब तब प्रकट मैं रूप अपना नित्य करता आप ही ॥
सज्जन जनो का त्राण करने दुष्ट-जन-संहार-हित।
युग-युग प्रकट होता स्वयं मैं धर्म के उद्धार हित ॥"

जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब साधु-पुरुषो के उद्धार एवं पापी, दुराचारी, अत्याचारी दानवोका संहार करनेके लिये भगवान् समय-समय पर प्रकट होते हा रहते हैं। धर्मकार्यों में बाधायें एवं भक्तो को त्रस्त होते देख भगवान् योगमाया के बल पर अपने-आपको मनुष्य रूप में आविर्भूत कर लेते हैं। इतना होने पर भी वे दुर्मति भगवान् श्रीकृष्णजी को ईश्वर न मान कर पापों का घड़ा भरते रहते हैं। उनके लिये भगवान्जी कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

गीता—९/११

अर्थ—मेरे परम भाव को न जानने वाले मूढ़-

लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमाया से संसार के उद्धार के लिये मनुष्य रूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं।

जो पुरुष अवतारवाद को नहीं मानते उन्हें इस तत्त्व का समझाया जाना कठिन है। वे भगवान् के अवतार को मानेंगे भी नहीं। जिन पशुओं को औषधी पिलाई जाती है उनके मुँह में अँगुलियों से जिह्वा पकड़ कर, विशेष प्रकार की नाल द्वारा बलात् दवाई डाली जाती है, परन्तु अवतारवाद के सिद्धान्त को ऐसे नहीं जा सकता। कोई माने या न माने, नियम तो नियम ही है। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की जो बातें हम सीख रहे हैं वे सब-की-सब ऋषियों की देन है, परन्तु ऋषियों ने भी जिनसे इन रहस्ययुक्त नियमों को जाना उन्हें भगवान् कहते हैं। प्राकृत उपादानों को अपने अधीन करके निराकार से साकार रूप में प्रगट होकर भगवान् जी ने देहधारी ऋषियों और मानवों को कार्य-अकार्य, उचित-अनुचित, सत्य-असत्य सम्बन्धी उच्चकोटि का ज्ञान प्रदान किया। बात सत्य है, देहधारी मनुष्यों को वास्तविकता का ज्ञान देने के लिये किसी उच्चकोटि के देहधारी की हो

आवश्यकता है। उच्चकोटि के भक्त जिन पर भगवान् जी की महती कृपा होगी वे ही इस तथ्य को जान सकेंगे।

भगवान्‌जी ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
गीता—४/१

अर्थ—मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा।

-अर्थात्-

यही योग जिसको नहीं है फ़ना,
विवस्वान् को मैंने पहले दिया।
मनु ने लिया फिर विवस्वान् से,
मनु से लिया इसको इक्ष्वाकु ने ॥

—※※—

भगवान्‌जी सर्वव्यापी दिव्य-ज्योति में ही सर्वत्र स्थित हैं। वे अवतार लेकर मनुष्य रूपमें नही विचरते, इस बात को कहना जितना सरल है, उतना सिद्ध करना कठिन है। जिस भगवान्‌जी ने साकार रूप में इतने विशाल विश्व की रचना कर डाली, उन्हें केवल

निराकार ही मानना नितान्त मूर्खता का परिचय देना है। यदि निराकार से साकार बनने की बात न होती तो भगवान्जी अपनी श्रीगीताजी में कभी न कहते—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
गीता—४/९

अर्थ—मेरे ऐसे दिव्य-जन्म और कर्म को जो तत्त्व से जानता है, वह देह को त्याग कर, हे अर्जुन ! फिर जन्म को नही पाता, (बल्कि) मुझ को ही प्राप्त होता है।

—※※—

जिस तरह अत्यधिक ठण्डक के क्षेत्र में जल की बूँदे जम कर बर्फ बन जाती है, ऐसे ही भक्त के प्रेम की बाहुल्यता में भगवान् साकार रूप में आने के लिये बाध्य हो जाते हैं। देवी-देवता, सिद्ध पुरुष एवं सच्चे भक्त भगवान्जीके साकार रूप पर ही लट्टू होते हैं। वे भगवान्जी को अपरोक्ष रूप में रिझा कर मस्त होते रहते हैं। यदि साकार रूप की बात सत्य नही है तो हमारे उच्चकोटि के सन्त एवं भक्त लोग क्या पाखण्ड करते रहे ? नही-नही, कदापि-कदापि नही ! ऐसा विचार करना भी पाप है। उन्हीं भगवान्

जी के प्रत्यक्ष रूप में दर्शन होते थे और अन्त में उन्हीं को सत्ता में एकमेक हो गये। भक्तिमति मीराजी के विषय में आता है कि जब उनके ऊपर अत्यधिक कठिनाइयाँ पड़ी और वे उन्हे सहन करने में असमर्थ हो गई, तब मीराजी के प्रार्थना करने पर भगवान्‌जी ने मूर्ति से साकार रूप में प्रगट होकर उन्हे सहर्ष स्वीकार कर लिया। हम सरीखे मूर्खों को समझाने के लिये केवल उनकी चुनरिया का एक छोर ही शेष रह गया था। साकार रूप का वर्णन श्रीगीताजी के १२वें अध्याय के आरम्भ मे आता है जहाँ पर भगवान् अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने श्रीमुख से फरमाते है—

क्लेशः अधिकतरः तेषां अव्यक्त आसक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिः दुःखम् देहवद्भिः अवाप्यते ॥
गीता—१२/५

—अर्थात्—

'अव्यक्त में आसक्त जो होता उन्हें अति क्लेश है।
पाता पुरुष यह गति, सहन करके विपत्ति विशेष है ॥'

आप ही विचार करें कि यदि साकार रूप में भगवान्‌जी का अवतरण न होता तो शास्त्रों में ऐसा उल्लेख क्यो आता ? महापुरुष सज्जन भगवान्‌जी के

साकार रूप में दर्शन करके श्रीगीता जी के १८वें अध्याय के अन्तिम श्लोक में गाते हुए सुनाई दे रहे हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

—अर्थात्—

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है— ऐसा मेरा मत है।

—**—

श्रीगीताजी में जो सिद्धान्त, विचार इत्यादि दिये गये हैं ये इतने उच्चकोटिके एवं मार्मिक हैं कि वे किसी सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए प्रतीत नही होते। अतः उन्हें अपौरुषेय कहा जायेगा। श्रीगीता-उपदेश को आज से ५२२५ वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र के रणाङ्गण में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ने अर्जुन के निमित्त कहा, परन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाये तो वही 'गीतोपदेश' अक्षरशः आज भी ज्यों-का-त्यों हमारे ऊपर लागू हो रहा है। भगवान्जी ने जो श्रीगीताजी में घोषणाये की हैं वे सब-की-सब ईश्वरीय एवं अलौकिक हैं।

भगवान्जी जब अविद्यामें घिरी हुई अपनी संतान

के कल्याणार्थ दिव्य देह धारण करते है तो वे अपनी इस इच्छा को पूर्ण करने में पूर्ण स्वतन्त्र होते है। मायापति होनेसे माया का प्रभाव उन पर नही पड़ता, जीव अविद्या मे देह धारण करता है। महापुरुष दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि किसी वाहन का स्वामी स्वतन्त्रतापूर्वक अपने वाहनका प्रयोग करता है। निर्धारित स्थानो पर पहुँच कर वह अपने वाहन को छोड़ कर निश्चिन्ततापूर्वक अपने कार्य करता है। अब तनिक दूसरी ओर देखें। वाहन का परिचालक (Driver) नौकर बन कर उसकी सुरक्षाके लिये वही बन्ध जाता है। ठीक इसी प्रकार भगवान्‌जी भी अपनी सृष्टि को पापो से मुक्त करने के लिये सुविधापूर्वक शरीर धारण कर लेते हैं। साधारण देहधारियो की तरह प्राकृत उपादानो से बंध नहीं जाते। भगवान् अजन्मे, अविनाशी स्वरूप, समस्त प्राणियो के ईश्वर, मायातीत एवं शाश्वत है। उनका किसी भी रूप मे प्रगट होना और छिप जाना अवतरण एवं तिरोभाव कहलाता है न कि जन्मना या मरना। इस प्रकार अवतरित होकर भगवान् अपनी सृष्टि की अस्त-व्यस्तता को दूर कर पुनः धर्म की स्थापना कर देते हैं।

ये वही भगवान् श्रीकृष्ण है जिन्होने अपने भक्तों

की रक्षा हेतु मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन एवं नृसिंह का रूप धारण किया और हिरण्यकशिपु जैसे महान् दैत्यो का संहार किया।

ये वही भगवान् श्रीकृष्ण है जिन्होंने शस्त्रधारी श्रीरामचन्द्रजी महाराज का रूप धारण कर रावण जैसे अनेकों दानवों का नाश किया।

ये वही भगवान् नन्दनन्दन है जिन्होंने कंस जैसे अत्याचारियों का वध किया और पार्थसारथि बन कर दुर्योधन जैसे अनेक दुर्मतियोंको मौतके घाट उतर-वाया।

अब ये वही भगवान् श्रीकृष्ण होंगे जो श्वेत वस्त्र धारण कर एवं अश्वारूढ होकर कलियुगके घोर पापियों का मिटियामेट करेंगे। समय आने दीजिये, तब दुष्टों को अवतारवाद स्वयं ही समझ आ जायेगा। अभी प्रतीक्षा करें, पाप का घडा और भरने दे। यह कल्कि अवतार कब होगा, निश्चित नही, क्योंकि अभी कलि-युग ने और भी अधिक पनपना है।

अब प्रश्न उठता है कि भगवान् परम दयालु एवं सर्वसमर्थ हैं, स्वयं अवतरित न होकर अर्जुन की नाईं वीर पुरुषों को निमित्त बना कर अपने उद्देश्य की पूर्ति क्यो नही कर लेते ?

इस विषय मे केवल इतना हो कहा जा सकता है कि भगवान्‌जी स्वयं प्रगट होकर मनुष्य से भी कई गुणा अधिक जीवो का कल्याण करते है। राजा कंस, रावण इत्यादि को मालूम था कि अनुचित कर्मों का परिणाम गन्दा होता है फिर भी वे भगवान्‌जी का विरोध करते रहे। भगवान्‌जी के हाथो मृत्यु को प्राप्त होकर वे सब-के-सब दुष्ट अत्याचारी भी इस नश्वर ससार से मुक्त हो गये। भगवान् जी का स्वयं मनुष्य रूप मे प्रकट होना धर्म के साम्राज्य को चहुँ ओर फैलाना है और साथ-ही-साथ भक्तो को उनकी भावना के अनुसार साकार रूप मे दर्शन देकर उन्हे कृतार्थ करना है। भगवान्‌जी का अवतरित होना ही हमारे लिये आदर्श प्रस्तुत करना है।। एक स्थान पर शास्त्र-कार लिखते है—

"यह बात सर्वथा ठीक है कि भगवान् बिना ही अवतार लिये अनायास ही सब कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं ही; किंतु लोगो पर विशेष दया कर के अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादि के द्वारा सुगमता से लोगो को उद्धार का सुअवसर देने के लिये एव अपने प्रेमी भक्तो को अपनी दिव्य लीलादि का आस्वा-दन कराने के लिये भगवान् साकार रूप में प्रकट होते

हैं। उन अवतारों में धारण किये हुए रूप का तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मो का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज ही संसार समुद्र से पार हो सकते हैं। यह काम बिना अवतार के नहीं हो सकता।"

आइये! हम भी सच्चे, पवित्र एवं दृढ़ मन से भगवान् को याद करे ताकि हमारा भी मनुष्य जन्म सार्थक हो जाये। हमारे प्रेम एवं पुकार में देरी हो सकती है परन्तु भगवान् के आने मे देरी नही हो सकती। अत: उस परमपिता परमेश्वर भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी महाराज के इस अवतारी दिवस पर उनके प्रेम में जख्मी हृदय से पुकार उठें—

ज़ुल्म जब हद से बढ़ता है, तेरा अवतार होता है।
तेरे अवतार से भक्तों का बेड़ा पार होता है॥

(१)

तेरी कुदरत निराली है, जगत् का तू ही वाली है।
तुम्हारे हाथों से दुष्टों का भी संहार होता है॥
ज़ुल्म जब······

(२)

कभी तुम राम बन आये, कभी तुम कृष्ण कहलाये।
तेरा जलवा हर रंग में, नया सरकार होता है।
ज़ुल्म जब······

इस विषय मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भगवान्‌जी स्वय प्रगट होकर मनुष्य से भी कई गुणा अधिक जीवो का कल्याण करते है। राजा कंस, रावण इत्यादि को मालूम था कि अनुचित कर्मों का परिणाम गन्दा होता है फिर भी वे भगवान्‌जी का विरोध करते रहे। भगवान्‌जी के हाथो मृत्यु को प्राप्त होकर वे सब-के-सब दुष्ट अत्याचारी भी इस नश्वर ससार से मुक्त हो गये। भगवान् जी का स्वयं मनुष्य रूप में प्रकट होना धर्म के साम्राज्य को चहुँ ओर फैलाना है और साथ-ही-साथ भक्तो को उनकी भावना के अनुसार साकार रूप में दर्शन देकर उन्हे कृतार्थ करना है। भगवान्‌जी का अवतरित होना ही हमारे लिये आदर्श प्रस्तुत करना है।। एक स्थान पर शास्त्रकार लिखते है—

"यह बात सर्वथा ठीक है कि भगवान् बिना ही अवतार लिये अनायास ही सब कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं ही; किंतु लोगो पर विशेष दया कर के अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादि के द्वारा सुगमता से लोगो को उद्धार का सुअवसर देने के लिये एवं अपने प्रेमी भक्तों को अपनी दिव्य लीलादि का आस्वादन कराने के लिये भगवान् साकार रूप मे प्रकट होते

हैं। उन अवतारों में धारण किये हुए रूप का तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मो का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज ही संसार समुद्र से पार हो सकते हैं। यह काम बिना अवतार के नही हो सकता।"

आइये! हम भी सच्चे, पवित्र एवं दृढ़ मन से भगवान् को याद करे ताकि हमारा भी मनुष्य जन्म सार्थक हो जाये। हमारे प्रेम एवं पुकार में देरी हो सकती है परन्तु भगवान् के आने मे देरी नही हो सकती। अतः उस परमपिता परमेश्वर भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी महाराज के इस अवतारी दिवस पर उनके प्रेम में जख्मी हृदय से पुकार उठें—

ज़ुल्म जब हद से बढ़ता है, तेरा अवतार होता है।
तेरे अवतार से भक्तों का बेड़ा पार होता है॥

(१)

तेरी कुदरत निराली है, जगत् का तू ही वाली है।
तुम्हारे हाथों से दुष्टों का भी संहार होता है॥
ज़ुल्म जब······

(२)

कभी तुम राम बन आये, कभी तुम कृष्ण कहलाये।
तेरा जलवा हर रंग में, नया सरकार होता है।
ज़ुल्म जब······

(३)

तुम्हीं ने रावण को मारा, तुम्हीं ने कंस पछाड़ा।
मगर भक्तों के सङ्ग तेरा, हमेशा प्यार होता है॥
जुल्म जब······

—※※—

जब जब होता नाश धर्म का,
और पाप बढ़ जाता है।
तब लेते अवतार प्रभु,
फिर विश्व शान्ति पाता है॥

हमारी इस करुणाजनक स्थिति को देखकर सर्व-अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज हमारे भी हृदय में प्रकट होंगे और जन्म-जन्मान्तरो से अत्याचार कर रहे काम, क्रोधादि दैत्यो का अवश्य ही संहार कर हमारा भी उद्धार कर देंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नही।

(२)

गुरुपूर्णिमा (व्यासपूजा) के उपलक्ष्य में :—

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के परमपिता—

* महर्षि भगवान् श्रीवेदव्यासजी *

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥

—❀❀—

मुबारिक दिल वही है जो,
श्री चरणों में झुक जाये ।
ख़ुदा की कसम खाता हूँ,
फ़रिश्ता वो ही बन जाये ॥

—❀❀—

'तेरी ख़ूबियाँ ग़ैर क्या जानता है,
तू जैसा है बस जो मेरा जानता है ।
मुहब्बत तेरी क्यों हुई मेरे दिल में,
तेरा दिल इसे बरमला जानता है ॥'

—❀❀—

निगम-आगम के अन्वेषक महर्षि भगवान् श्रीवेद-व्यासजी वेदपिता माने जाते हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम वेद-

मन्त्रो को एकत्रित किया, उनका सम्पादन किया एवं चार वेदो के रूप में प्रकाशित किया। उन्होने जिन उच्चकोटि के तथ्यो को निर्दशित किया, वे क्या परिव्राट् और क्या सम्राट् सब के लिये अत्यन्त उपादेय हैं।

श्रीभगवान् ने वेदो के प्रचार-प्रसार किंवा इस महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिये महर्षि श्रीवेद-व्यासजी को ही एकमात्र उपयुक्त समझा। महर्षि न केवल भारतीय धार्मिक विज्ञान के सिद्धान्तो को जानने में सिद्धहस्त ठहरे अपितु उन्हें अपने जीवन में क्रियान्वित कर के भगवान् श्रीवेदव्यासजी का श्रेष्ठ पद भी ग्रहण किया। इन्होने महावाक्य 'महाभारत' के भीष्मपर्व में इन उच्चकोटि के सिद्धान्तों को पद्य रूप में सजा कर 'श्रीमद्भगवद्गीता' का पवित्र नाम दिया। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ने कुरुक्षेत्र के रणाङ्गण में अपनी मधुर चितवन एव अमृतमय चिन्तन द्वारा जो भक्तवर अर्जुन को मोहनिवारणार्थ उपदेश किया, उसे ही सात सौ श्लोको मे सजो कर महर्षिजी ने हमारे अन्तस्तल मे सदा-सर्वदा के लिये अपना प्रेम, श्रद्धा एवं भक्ति का साम्राज्य स्थापित कर लिया।

महर्षि भगवान् श्रीकृष्णजी के अंशावतार माने

जाते हैं और इसी कारण केवल इनके नाम के साथ ही 'भगवान्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। श्रीमद्भगवद् गीता के दसवें अध्याय के ३७वें श्लोक में भगवान्जी ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है—'मुनीनां अपि अहं व्यासः'। इनका मुख्य नाम तो 'श्रीकृष्णद्वैपायन' है। 'वेदव्यास' इनकी उपाधि मानी जाती है। भगवान् वेदव्यास महर्षि पराशर के पुत्र थे। व्यास कहते हैं विस्तार को; क्योंकि इन्होंने आगे चल कर वेदों का गवेषणापूर्ण विस्तार किया, इसलिये ये महर्षि श्रीवेद-व्यासजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। भारतीय रीति-रिवाज और आर्य-संस्कृति में कोई ऐसा पहलू नहीं छोड़ा जिस को कि महर्षिजी ने उच्चकोटि तक पहुँचा न दिया हो। चोटी के दार्शनिक (A Brilliant Philosopher) होने के नाते से इन्होंने वाङ्मय साहित्य में अपूर्व स्थान प्राप्त किया।

भारतीय वाङ्मय एवं हिन्दू-संस्कृतिके आध्यात्मिक क्षेत्रमें अठारह 'पुराण', 'महाभारत', 'ब्रह्मसूत्र', 'व्यास-स्मृति' प्रभृति ग्रन्थोंकी रचना करके महर्षि वेदव्यासजी ने जो गौरव हमारी हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति को प्रदान किया उससे हम शताब्दियों तक भी उऋण नहीं हो सकते। इन्हीं कारणोंसे महर्षि भगवान् श्रीवेदव्यास

जी का नाम सदा ही अमर रहेगा। हमारे पथ-प्रदर्शक एवं मनो पर राज्य करने वाले महर्षि जगद्गुरु के रूप में पूजे जाते हैं। सञ्जय को दिव्य-दृष्टि प्रदान करनेवाले महर्षि श्रीवेदव्यासजी की हम हिन्दू लोग आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा अर्थात् 'गुरुपूर्णिमा' के दिन पूजा किया करते हैं। इस पुनीत महोत्सव के दिन हम अपनी प्रतिज्ञाओ की पुनरावृत्ति करते हैं ताकि उनके उपदेश, आदेश एवं सन्देश की स्मृति फिर से हरी-भरी हो जाये। श्रद्धा की पुष्पाञ्जलि दे कर उनसे हम आशीर्वाद रूप मे, अन्तःकरण मे राग-द्वेष कलुषित-मति से ठहरी हुई त्रुटियोको दूर करने के लिये शक्ति की याचना करते हैं।

प्रिय गीता पाठक !

हम सब गीतानुयायो वर्ग महर्षिजी के उपकारो से बहुत-बहुत दबे हुए है। अतः इन उपकारो के बोझ से कुछ हल्का होने के लिये, आप भी मेरे साथ सम्मिलित हो कर, इनके श्रीचरणों मे यह हार्दिक प्रार्थना करें—

हे मुनिवर !

तमसो मा ज्योतिर्गमय !

—**—

(३)

* गीतामें 'धर्म' शब्दका प्रयोग *

वो चाल चल कि उमर खुशी से कटे तेरी।
वो काम कर कि याद तुझे सब किया करें॥

—❀—

तुलसी जब पैदा हुए जग हँसे हम रोये।
ऐसी करनी कर चलो हम हँसें जग रोये॥

—❀—

धर्म शब्द की परिभाषा :—

कोई भी वस्तु जो अपने आवश्यक गुण के बिना क्षणमात्र भी टिक न सके उसे उस वस्तुका 'धर्म' कहा जाता है। यथा—उष्णता (Heat) अग्निका आवश्यक गुण (Essential property) माना जाता है जिसके अभाव में अग्नि को हम अग्नि नहीं कह सकते, यह अग्नि का धर्म है। इसी प्रकार खांड का धर्म मिठास और तरलपन जल का धर्म कहा जायेगा। आज का वैज्ञानिक (Scientist) भी यही पुकार कर कह रहा है—"Dharma is—the law of being, i. e. that be cause of which a thing continues itself to be the thing, without which the thing cannot continue to be the thing, is the Dharma of the thing. For Example heat, because of whi-

ch fire maintains itself as fire, without which fire can no more be fire, is the Dharma of the fire. Sweetness is the Dharma of sugar. Fluidity is the Dharma of water.

अतः हम कह सकते है कि मनुष्यका धर्म है–मानव धर्म एवं उसका आवश्यक गुण (essential property), तत्त्व, सार अथवा यथार्थता है—आत्मा। मानव धर्म के गुणो को अपना कर मनुष्य अपने स्वधर्म तक पहुँच जाता है अर्थात् आत्मानुभव कर लेता है। इसके अतिरिक्त जो हमने गलत धारणा द्वारा अपने आपको आत्मा-परमात्मा न समझ कर शरीर ही समझ लिया है और उसका सुख ही प्रमुख मान लिया है, इसी से आजकल हमारे भीतर नितान्त पशुता (Brute animalism) स्पष्ट दिखाई देती है। एक सच्चे एवं पक्के साधक का कर्तव्य बन जाता है कि वह यथाशीघ्र इस गलत धारणा को दूर कर दे। इस जड़ता एवं पशुता को अपने भीतर से निकालना ही साधना है।

धर्म शब्द की विवेचना :—

भगवान्जी ने श्रीगीताजी के ज्ञानामृतोपदेश द्वारा जो सब धर्म छोडने की बात कही उसका सीधा एव सरल अर्थ यही है कि जो हमने अज्ञानतावश बुद्धि में गलत निर्णय, मन में गलत विचार एवं इन्द्रियो द्वारा

गलत कर्म करने का स्वभाव बना लिया है, केवलमात्र उसे ही त्यागने को कहा है न कि अपने मानव धर्म को। परिवार की व्यर्थ की चिंतायें, समाज के व्यर्थ के रीति-रिवाज; फलकी चाहना रख कर कर्मक्षेत्र में युक्त होना; शरीर को ही अपना-आप (Real-Self) समझ कर उसको ही सुख पहुँचाने का गलत स्वभाव; भूल से सम्बन्धियों को अपना मानने का स्वभाव मनुष्य के वास्तविक मानव धर्म का विरोध नही तो और क्या हो सकता है ? प्रिय गीताध्यायी ! अपना अहित आप ही करने का प्रयोजन ? इसलिये भगवान्‌जी ने मानव धर्म को छोड़ कर अन्य सब अज्ञानतावश माने गये धर्मो (स्वभाव-Nature) को छोड़ने की ही बात कही है। एक बात और है—इस बात की पुष्टि करते हुए हम यह भी कह सकते है कि आज से लगभग ५२२५ वर्ष पूर्व द्वापर मे एकमात्र 'सनातन धर्म' के अतिरिक्त और कोई सम्प्रदाय यथा—यहूदी, ईसाई, बुद्ध सम्प्रदाय प्रभृति जिन्हें हम अज्ञतासे धर्म कह देते हैं, का अस्तित्व था ही नही। ये सब सम्प्रदाय तो आजकल के हैं। प्राचीन धर्म तो सनातन धर्म ही माना जाता है। इसलिये जब और धर्म थे ही नही, तो भगवान् का उनके छोड़ने की बात कहने का प्रश्न ही नही उठता। श्री-

गीताजी में भगवान्‌जी ने स्वयं ही अपने श्रीमुख से कहा है :—

ब्रह्मणः हि प्रतिष्ठा अहम् अमृतस्य अव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्य ऐकान्तिकस्य च ॥

गीता—१४/२७

—अर्थात—

मेरी जात ही ब्रह्म का है प्रकाश,
सबात-ओ बका का मुझी में क़याम ।
मैं दीन-ए अजल का भी हूँ आसरा,
मेरी जात-ए आली में राहत सदा ॥

श्रीगीताजी की ब्रह्मविद्या को यदि हम ठीक अर्थ में समझ लें तो बात शीघ्र ही स्पष्ट हो जाती है और अन्य शास्त्रों को बांचने की आवश्यकता नहीं रहती ।

धर्म का परित्याग अपने निजी स्वभाव का परित्याग नहीं अपितु अपनी गलत धारणाओं का परित्याग है । भगवान्‌जी का यह कहना—'सर्व धर्मान् परित्यज्य……' (गीता—१८ । ६६) अङ्गारों के ऊपर से राख को दूर करने के समान है अर्थात् अपने माने हुए गलत धर्म (स्वभाव-Nature) को छोड़ने के समान है, न कि अपने मानव-धर्म अर्थात् अटल नियम किंवा गुणों द्वारा निर्मित स्वभाव को । स्वभाव बनता

है पिछले जन्मों के संस्कारों के अनुसार। संस्कारों से विचार, विचारों से कर्म और कर्मो से स्वभाव बनता है। पुराने स्वभाववश जीव को कर्म करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न नही करना पड़ता अपितु जल के बहाव की तरह वह संस्कारो अनुसार अपने कर्मों में प्रवृत्त होता रहता है। दुराचारी को असत्-आचरण करने के लिये और भक्तको भगवान्‌जी की भक्ति करने के लिये कोई नही कहता अपितु इसमें जीव का अपना पुराना स्वभाव ही बलवती माना जाता है।

धर्म और मानव—

श्रीगीताजी के निम्नाङ्कित श्लोकों में धर्म शब्द का विवेचन है जिनका अर्थ मनुष्य के स्वभाव रूप में लिया जाता है—

(१) धर्म के नाश से समस्त कुल में पाप फैल जाता है, कुल धर्म के नाश से जाति-वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है और महान् अनर्थ का सामना करना पड़ता है।

—अध्याय १/४०, ४१, ४३, ४४

(२) (क) अर्जुन क्षात्रधर्म की दृष्टि से युद्ध को धर्म समझ कर उसमें लगना उचित समझते हैं परन्तु उनके चित्त की वर्तमान कार्पण्यवृत्ति उन्हे ऐसा करनेसे रोकती है। —अ० २/७

(ख) अपने धर्म को देख कर भी तू भय करने योग्य नही है क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से बढ़ कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्त्तव्य नही है।

—अ० २/३१

(ग) और अगर तू इस धर्मरूपी संग्राम को नही करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति को त्याग कर (केवल) पाप को प्राप्त होगा।

—अ० २/३३

(घ) कर्मयोगरूप धर्म का थोडा-सा भी साधन महान् भय से रक्षा कर देता है।

—अ० २/४०

(३) मनुष्यका स्वधर्म पालन करनेमें ही कल्याण है; परधर्म का सेवन और निषिद्ध कर्मों का आचरण करने में सब प्रकार से हानि है।

—अ० ३/३५

(४) भगवान्‌जीका भजन करने वाला भक्त शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है।

—अ० ९/३१

(५) अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नही प्राप्त होता।

—अ० १८/४७

(६) सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों को मुझ मे त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर को ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापो से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

—अ० १८/६६

उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीगोतामें 'धर्म' शब्द का प्रयोग प्राय: मानव के निजी स्वभाव (Essential nature) के अर्थ में हुआ है। स्वभाव इस जन्म के साथ सम्बन्धित नही होता अपितु प्रारब्ध कर्मों से एवं संस्कारों से अटूट सम्बन्धित होता है। मानव शिशु पिछले जन्मों के अवशेष संस्कारों (अरमानो) को ले कर ही उत्पन्न होता है। उन्ही संस्कारों के अनुरूप समय पा कर विचार बनते है। इन्हीं विचारों के अनुसार कर्म हुआ करते हैं और इन्हीं कर्मों से स्वभाव बनता है। जब तक मानव अपने पूर्व संस्कारो को पूर्णरूपेण भोग-भोग कर समाप्त नही कर लेता तब तक उसका स्वभाव किसी भी परिस्थिति एवं दशा मे परिवर्तित नही हो सकता। यह अटल नियम है, भले ही कोई दुराग्रही (हठी) बन कर माने या न माने। नियम तो नियम ही होता है।

—याद रहे—

नियम बहुसंख्या (Majority) को नही देखता,

नियम भगवान् के श्रीमुख (सत्यता) को देखता है। (Fact has no defect.) नियम का व्यतिक्रम मनुष्यके लिये अन्ततः हानिकारक ही सिद्ध होता है। दुर्द्धर्ष अर्जुन अपने क्षात्र-धर्म से च्युत हो रहा था, युद्धक्षेत्र से पीठ फेर कर सन्यासी बनने की बात सोच रहा था। भगवान्‌जी ने अर्जुन को पथ-भ्रष्ट होने से बचा लिया और उसे कर्तव्य कर्म की याद इस प्रकार दिलाई—

स्वधर्मम् अपि च अवेक्ष्य न विकम्पितुम् अर्हसि।
धर्म्यात् हि युद्धात् श्रेयः अन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥
गीता—२/३१

—अर्थात्—

'धर्म रूपी युद्ध से उत्तम न दूजा कर्म है।
युद्ध कर, तू भय न खा कुछ, यही तेरा धर्म है।'

यहाँ देखिये अर्जुन भले ही अपने स्वधर्म का परित्याग कर देते परन्तु उनके क्षत्रियपनके संस्कार अमिट होने के कारण उन्हें युद्ध के लिये पुनः प्रेरित कर देते। दांतो में पायोरिया (Pyorrhoea) हो जाने से भले ही कोई मुँह पर सुगन्ध लगा ले परन्तु इससे मुँहके भीतर की दुर्गन्ध दूर नही हो सकती। इसी प्रकार स्वधर्म के परिवर्तन कर लेने से आभ्यान्तरिक संस्कार दूर नही हो सकते। मेरे भारतवासी भले ही लाख प्रयत्न करके

विदेशी आहार-विहार, भाषा एवं पहरावे की अनुकृति कर लें परन्तु उनके भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के संस्कार उन्हें विदेशी नहीं बनने दे सकते। भारतीय तो भारतीय ही रहेगा। इसके विपरीत यदि कोई आचरण करेगा तो भी वह अपने स्वभाववश वापिस लौट आयेगा। कहा भी है कि शक्ति के प्रयोग से किसी को वश में नही किया जा सकता। (That which is forced is never forcible) भगवान्‌जी ने भी श्री-गीताजी में संस्कारों की गहन परिस्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है —

सदृशम् चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः ज्ञानवान् अपि।
प्रकृतिम् यान्ति भूतानि निग्रहः किम् करिष्यति॥
गीता—३/३३

अर्थ :—*ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के सदृश चेष्टा करता है। सब प्राणी (अपनी) प्रकृतिको प्राप्त हो रहे हैं। निग्रह क्या करेगा?*

कृपया ध्यान दें, श्रीगीताजी में जो धर्म त्याग की बात आई है उसका अर्थ है कि जो हमने अपने स्वभाव के प्रतिकूल मन-बुद्धि द्वारा अन्य धारणाओंको एकत्रित कर लिया है, केवलमात्र उस अध्यारोप को हटानामात्र ही है। अन्यथा पीछे से ज़ोर की ध्वनि में कोई पुकारता सुनाई देता है।

'कागा चला हंस की चाल, अपनी भी खो बैठा।'

—और—

जिसका काम उसीको साजे, और करे तो ठींका वाजे।

यदि प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति अपने-अपने स्वधर्मानुसार कार्य करना प्रारम्भ कर दे तो आज मेरे भारतवर्ष में बेरोजगारी का प्रश्न ही न उठे। काश कि हमने श्रीगीताजी के सिद्धान्तों को ओर ध्यान दिया होता तो आज की हमारी ये नाना प्रकार की पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एव अन्तराष्ट्रीय समस्यायें कभी की सुलझ गई होती! एक दूसरेके स्वभाव को नकल करने से ही यह अस्त-व्यस्तता दिखाई दे रही है। ब्राह्मणका सुपूत यदि अपने स्वधर्म का परित्याग करके क्षत्रिय के धर्म-सैनिक क्षेत्र मे न आता, क्षत्रियका बेटा यदि वैश्यो के स्वभाव को न पकडता और शूद्र वर्ग के व्यक्ति यदि अपने सेवा के धर्म को छोड़ कर ब्राह्मण, वैश्य एव क्षत्रियो के स्वभाव की नकल न करते तो जो आज चारो ओर दु:ख एवं अशान्ति के बादल घिरे हुए हैं ये कदापि-कदापि दिखाई न देते। भगवान्‌जो स्वयं अपने श्रीमुख से फरमाते हैं—

> श्रेयान् स्वधर्मः विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
> स्वभावनियतम् कर्म कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम्॥
>
> गीता—१८/४७

—अर्थात्—

नहीं मन्सबी धर्म तेरा अगर,
जो खूबी से भी कर सके तो न कर।
जो है धर्म तेरा वो कर काम आप,
बुरा हो भला हो, नहीं उसमें पाप॥

कोई भी कर्म अपने-आपमें भला या बुरा नहीं अपितु मनुष्यकी भावना ही उसे अच्छा या बुरा बनाती है। भले ही देखने में कोई छोटा काम कर रहा है परन्तु यदि कर्ता की भावना उच्च है तो छोटे-से-छोटा काम भी महान् बन जाता है। ठीक इसके विपरीत भले ही देखने में कोई उत्तम कार्य कर रहा है परन्तु यदि कर्ता की भावना में निजी स्वार्थ है तो वह उत्तम कर्म भी अति नीच बन जाता है। इसलिये भगवान्‌जी फ़रमाते हैं कि भले ही स्वभाववश कर्म कोई भी क्यों न हो उसे भगवत्-प्रीत्यर्थ ही करना चाहिये। भगवान्‌जी की दृष्टि में कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसमें कोई-न-कोई त्रुटि न हो। यथा—

सहजम् कर्म कौन्तेय सदोषम् अपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भाः हि दोषेण धूमेन अग्निः इव आवृताः॥
गीता—१८/४८

—अर्थात्—

'निज नियत कर्म सदोष हो,
तो भी उचित नहीं त्याग है।
सब कर्म दोषो से घिरे,
जैसे धुयें से आग है॥'

कर्म से ही इन्सान का स्वभाव बनता है। स्वभावानुसार यदि कर्म किये जाये तभी ठीक है अन्यथा व्यक्ति कहीं का नहीं रहता। धोबी के कुत्ते की तरह न घर का न घाट का। ऐसे जीव जो न तो अपने स्वभाव-अनुकूल कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और न ही दूसरे के धर्मानुसार वर्तते है, वे 'चिरड़-घुग्घ' अर्थात् आधा तीतर आधा बटेर के समान ही होते हैं। इस प्रकार प्राणी किसी भी कार्यक्षेत्र में सिद्धहस्त नहीं हो पाता। (Jack of all trades, but master of none.) जब तक कोई भी कर्ता अपने कर्मक्षेत्र में सिद्धहस्त नही हो जाता तबतक पूर्णकला का प्रगटीकरण नही हो सकता। हर व्यक्ति हरफन मौला बनना चाहता है परन्तु माहिर नही बनना चाहता। यदि अपने-अपने स्वधर्मानुसार जीव कर्मों मे कौशलता प्रगट कर ले तो इससे अनेक जीवो का लाभ हो सकता है। ब्राह्मण का अंगज यदि स्वधर्म का पालन करता हुआ अपने

ब्राह्मणत्व को बनाये रखता है तो इसमें उसे तो आसानी रहेगी ही, इसके अतिरिक्त दूसरे वर्णों की भी भलाई हो जायेगी। क्षत्रिय का अङ्गज यदि सेना में भर्ती होकर देश की सेवा करता है तो इसमें सबका भला है। वैश्य का आत्मज यदि अपने पैतृक व्यवसाय को सम्भाल लेता है तो इसमें उसे और दूसरे वर्ग के लोगोंको कितनी सुविधा होगी! इसी प्रकार यदि दर्जी, बढ़ई प्रभृति के पुत्र अपने-अपने धर्मानुसार कर्म करने लगें, इसमें वे एक तो अपने-अपने कार्यों में शीघ्र ही बढ निकलेंगे, दूसरा उन्हें अधिक एवं अतिरिक्त ज्ञान की भी आवश्यकता नही पड़ेगी। इस प्रकार देश में कला का ह्रास होने से बच पायेगा। प्रायः देखा यही गया है कि आजकल एक दूसरे के धर्मों (स्वभाव) की अनुकृति की जाती है और अपने धर्म की उपेक्षा की जाती है। इसी से आज हमारा बुरा हाल हो रहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब-के-सब अपने-अपने कुल एवं जाति-धर्मों को छोड़कर नौकरी (Service) करना चाहते हैं, तो आप ही बतायें हमारे देश में कार्याभाव (Unemployment) की समस्या क्यों न हो? एक रिक्त स्थान को भरने के लिये सैकड़ों आवेदन पत्र आ जाते हैं। ऐसी परिस्थिति को देखकर

हमें बहुत लज्जा आती है। महापुरुषों की कहावत—

'एक अनार सौ बीमार'

इस विषय में पूरी चरितार्थ होती है।

भगवान्जी का यह फरमान न जाने कब पूरा होगा जहाँ वे अपने श्रीमुख से फरमाते हैं—

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिम् लभते नरः।
स्वकर्मनिरत सिद्धिम् यथा विन्दति तत् शृणु॥

गीता—१८/४५

—अर्थात—

अगर अपने अपने करो कारोबार,
तो हो जाओगे कामल इञ्जाम-ए कार।
अगर फ़र्ज की अपने तामील हो,
तो सुब क्योंकर इन्सां की तकमील हो॥

अन्त में इतना ही कहना है कि भले ही इन्सान आज इस त्रुटि को अनुभव करे या न करे परन्तु अपने स्वभावानुसार उसे अपने कर्मकी ओर लौटना ही पड़ता है। अपनी भूल का प्रायश्चित करते एव आंसू बहाते हुए कहना ही पडता है—

'न खुदा ही मिला न वसाल–ए सनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे।'

—※※—

(४)

★ विश्व में इतना दुःख क्यों ? ★

भगवान्‌जीने तो दुःख वनाया ही नही। वह न तो आकाश से गिरता है और न ही धरती फोड़ कर किसी के सम्मुख प्रगट होता है। जीव स्वयं ही अपनी अज्ञानता से विक्षिप्त हो जाता है।

दुःख क्या है? इसकी कोई ठोस परिभाषा नही हो सकती, क्योंकि जो एक के लिये दुःख का कारण है वही दूसरे के लिये सुख रूप में परिणत हो जाता है। कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में उपस्थित होने से पूर्व यद्यपि वीरवर अर्जुन अनेकों युद्धो में विजयी हुआ परन्तु मोह के वशीभूत होने से उसकी बुद्धि पर आवरण छा गये और शोकातुर होकर युद्ध से पीठ दे बैठा। हा, शोक! अज्ञानता से उत्पन्न नकारात्मक वृत्तियों के अधीन जब मनुष्य हो जाता है तब, केवलमात्र तब ही वह मनोकल्पित दुःखों से पीड़ित होने लगता है।

बन्धुवर! वास्तव में भगवान् की सृष्टि दुःख का कारण नही; यदि कोई विश्व मे दुःख का कारण है तो वह है—मनुष्य की आपात-रमणीय प्राणी-पदार्थों

के प्रति सुख की आशा। इस प्रकार मनुष्य चाहता तो है उनसे सुख और आनन्द प्राप्त करना परन्तु परिवर्तनशीलता एवं नश्वरता के स्वभाव वाले सांसारिक प्राणी-पदार्थ उसको दुःख, तकलीफ, बेचैनी, भटकन के अतिरिक्त और दे ही क्या सकते हैं? इसी को तो कहते हैं—'Hoping against hope' महापुरुषों, गुरुजनों का सङ्ग एव सत्संग पाकर, आज का दुःखी मानव जब पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी होकर अपने प्रभु की अविचल शरण को ग्रहण करता है और भगवत्-उपदेशों को मन एव बुद्धिमें भली-भांति धारण कर लेता है, तो उसके समस्त स्वयं निर्मित दुःख सदा-सर्वदा के लिये उसे छोड़कर समुद्र की किसी गहरी तह में जा छिपते हैं। अन्त मे ज्ञान-सम्राट् अपने गुरुदेव 'स्वामी रामतीर्थजी महाराज' के ये अनमोल उद्गार लिखता हुआ मैं यह विषय सम्पूर्ण किया चाहता हूँ—

जब तलक अपनी समझ,
इन्सान को आती नहीं।
तब तलक दिल की,
परेशानी कभी जाती नहीं॥

—※※—

(५)

वश में होते आये भगवान् भक्त के ❀

'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथम् स्थापय मेऽच्युत

गीता—१/२१

–अर्थात्–

हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये।

—❋❋—

तीन लोकों के मालिक होते हुए,
रथ चलाना तुम्हारा गजब हो गया।
इक तो अवतार तुम्हारा कुछ कम न था,
उसपे गीता सुनाना गजब हो गया॥

—❋❋—

हे प्रभो!

भक्त वत्सल, भक्ताधीन, भक्त परिपालक एवं भक्त वल्लभ होने के कारण आपने अपने भक्तों के मङ्गल के लिये क्या कुछ नहीं किया! भक्त अर्जुन के लिये आप स्वयं ही उसके सारथि बन बैठे। इन उपर्युक्त भावों को प्रगट करते हुए सन्त शिरोमणि श्रीसूरदासजी लिखते हैं—

हम भक्तनि के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन! परतिग्या मोरी, यह व्रत टरत न टारे॥

भक्तनि काज लाज हिय धरि कै, पाइ पियादे धाऊँ।
जँह जँह भीर परै भक्तनि कौं, तँह तँह जाइ छुड़ाऊँ॥
जो भक्तिन सौं बैर करत है, सो बैरी निज मेरो।
देखि बिचारी भक्त हित कारन, हाँकत हौं रथ तेरो॥
जीते जीत भक्त अपने के, हारे हार विचारौं।
'सूरदास' सुनि भक्त विरोधि, चक्र सुदरसन जारौं॥

—

निःसन्देह, भगवान् तो सदा ही भक्त के हैं परन्तु आवश्यकता है शोकातुर अर्जुन की तरह मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर प्रभु की शरण ग्रहण करने और अपने जीवनरूपी रथ की बागडोर उनके हाथों सौंपने की। भागवत् पुराण में तो भगवान्जी ने प्रेम में भरकर यहाँ तक कह डाला—

जहाँ-जहाँ भक्त मेरा पग धरे, तहाँ धरूँ मैं हाथ।
पाछे-पाछे मैं फिरूँ, कभी न छोड़ूँ साथ॥

भगवान्जी श्रीगीताजी के छठे अध्याय के तीसवें श्लोक में कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वम् च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
गीता—६/३०

—अर्थात्—

जो हर शिख्यस पाता है मेरा ही नूर,
मुझी में वो हर शय का देखे ज़हूर।

कभी मुझ से मुँह मोड़ सकता नहीं,
कभी मैं उसे छोड़ सकता नहीं ॥

प्रिय गीता-पाठक !

कलियुग ने बुद्धि पर ऐसे आवरण डाल दिये हैं कि जिससे वास्तविक भक्तों को पहचान करना कठिन हो गया है । यों तो सब अपने-आपको 'भक्त जी' 'भक्त जी' सुनना चाहते हैं परन्तु वास्तवमें भक्त बनना नहीं चाहते व ही उनमें पूर्णरूपेण प्रभु का प्यारा बनने की आकांक्षा ही उत्पन्न होती है । भक्त जब पवित्र हृदय से अथवा रोम-रोम से भगवान् की यादें में अपने को दीवाना, मस्ताना बना देता है तो भगवान्‌भी उसके जीवन रूपी रथ की बागडोर क्यों न अपने हाथों में ले लें ।

ये वही भगवान् हैं जिन्होंने विष को अमृत किया, रथ हाँका, साड़ी रूप धारण किया, भक्तों का अन्न-जल उठाकर उनके घर तक पहुँचाया, यज्ञ में जूठी पतलें उठाईं और हाँडी के एक तिनके से त्रिलोकी को तृप्त किया । भक्त की पुकार में भले ही देरी हुई हो परन्तु भगवान् के आने में कभी भी देरी नहीं हुई । भक्त की भक्ति भगवान् को भक्त का भी भक्त बना देती है अर्थात् भक्त भगवन्त और भगवान् भक्त बन बैठें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ! प्रेमामृत चखने

वाले भक्त अपनी कोई इच्छा ही नहीं रखते वरन् भगवान् तो हर समय 'तथास्तु' कहने की प्रतीक्षा में रहते हैं। भक्तों का एकमात्र इष्ट पदार्थ यदि कोई है तो वह स्वयं भगवान् ही हैं। इसलिये भगवान् को स्वयं ही उनके वश में हो जाना पड़ता है।

तो आइये, हम भी सच्चे भक्त बनने की प्रतिज्ञा करें ताकि हमारे लिये भी भगवान् इस संसाररूपी 'कुरुक्षेत्र' में विजय घोषणा का शङ्ख बजानेके लिये बाध्य हो जायें।

बस, जरूरत है अर्जुन की नाईं आत्म-समर्पण की!

—अलः—

शुभस्य शीघ्रम्!

(६)

महाभारत के नायक—

* कुरुराज धृतराष्ट्र *

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में दिव्य-दृष्टि सम्पन्न 'सञ्जयजी' से कुरुक्षेत्र में हो रहे महाभारत युद्ध का वृत्तान्त पूछते हुए धृतराष्ट्रजी का 'मामकाः पाण्डवाः च एव' शब्दों का कहना इस बात का सूचक है कि वे अपने छोटे भाई पाण्डु के पुत्रों को पुत्रवत् नहीं समझते थे। उनका मन अपने ज्येष्ठ पुत्र दुरात्मा दुर्योधन की ओर ही झुका हुआ था।

धृतराष्ट्र न केवल जन्मान्ध ही थे वरन् मोहान्ध भी थे। महाभारत में आया है कि भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज ने उन्हें राजसभा में अपने दिव्य रूप का दर्शन करवाया और उनको इसके लिये दिव्य-दृष्टि भी प्रदान की। धृतराष्ट्र महाभारत के परिणाम से अनभिज्ञ न थे, इसी से उन्होंने प्रभु-प्रदत्त दिव्य-दृष्टि को लेना स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् यही दिव्य-दृष्टि महर्षि वेदव्यासजी ने संजय को प्रदान की। इस प्रकार धृतराष्ट्र महाकाव्य श्रीगीताजी के आरम्भ में एक बिडावे की तरह नजर आते हैं।

पाण्डवों को 'लाक्ष-गृह' में जलाने, द्यूत द्वारा उन

का राज्य छीन लेने से, द्रौपदी चीर-हरण में, दूत रूप में श्रीकृष्णजी को बन्दी बनाने, अज्ञातवास से लौटने पर पान्डवों को उनका राज्याधिकार न देने इत्यादि अनेकों दुष्कृत्यों किंवा अन्याय पूर्ण क्रियाओं में जब-जब भी दुर्योधन ने अपने पिता धृतराष्ट्र से अनुग्रह किया, तो न चाहते हुए भी मोह में अन्धे होकर वे उसे अपनी अनुज्ञा एवं सम्मति दे बैठते थे। उनकी यह कमजोरी अन्त में उनके दुःखों एवं विनाश का कारण बनी।

धृतराष्ट्र ने संजयजी द्वारा वीरवर अर्जुन को एक ऐसा गुप्त सन्देश दे भेजा, जिसका अर्जुन पर मनोवैज्ञानिक रूप से बहुत प्रभाव पड़ा। श्रीगीता जी में दूसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन इसका वर्णन स्वयं भगवान्‌जी से करते हैं। परिणामस्वरूप अर्जुनकी नाड़ियों एवं नसो में खौलता हुआ गर्म खून एवं चिरकाल से उठ रही युद्ध को ज्वाला शान्त हो गई। धृतराष्ट्र का यह षडयन्त्र सफल हो भी जाता यदि जगद्‌गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी गीता के उपदेश की मधुर मुस्कान एवं कुछ हीं शब्दो में अर्जुन को पुनः निमित्त बना कर युद्ध के लिये उकसा न देते! निःसन्देह धृतराष्ट्र का यह बहुत ही कुत्सित कार्य था।

भाइयो! इस प्रकार धृतराष्ट्र पुत्र के मोह में पड़

कर दुर्योधन के अन्यायों का निराकरण न कर सके और इस कारण से दोषके भागी बने। यद्यपि धृतराष्ट्र जी में उपरोक्त त्रुटियां थी, फिर भी अत्र-तत्र-सर्वत्र उनके व्यक्तित्व में भगवद्गुणों का भी पुट पाया जाता है। महाभारत के अन्त में कुछ दिन हस्तिनापुर में रहने के पश्चात् धृतराष्ट्रजी अपनी धर्मनिष्ठ एवं पति-परायणा पत्नी सहित अवशेष जीवन ईश्वराराधना में लगाने के लिये वन में चले गये और अन्त में तप करते हुए वहीं अरण्य-अग्नि में जल कर भस्म हो गये।

—※※—

❀ गीता-गौरव ❀

"आस्तिक हिन्दू की दृष्टि में गीता का महत्त्व इसलिये सर्वाधिक है कि उसकी अवतारणा महाभारत के ऐतिहासिक युद्ध के अवसर पर कुरुक्षेत्र की पुण्यभूमि में षोडशकला-सम्पूर्ण अवतार साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा हुई है।'

—※※—

"श्रीमद्भगवत्-गीता कैसा अपूर्व ग्रन्थ है, यह वाणी के द्वारा नहीं बतलाया जा सकता। साक्षात् श्री भगवान् के मुख-कमल से निकला हुआ होने के कारण यह महाग्रन्थ भी श्री भगवान् के ही समान है।"

—※※—

(७)

* ज्ञानसे मोहका उन्मूलन *

मोह मिटाने हेतु प्रभु लीनो तुम अवतार।
उल्टो मोहनरूप धरी मोही सब व्रज नार ॥

सचमुच, भगवान्‌जी का पुण्य जीवों को अपनी ओर आकर्षित करना मानो द्वैत को सदा-सदा के लिये समाप्त करना है। पारमार्थिक रूप से भगवान् से मोह (प्रेम) करना कल्याणकारी सिद्ध होता है, क्योंकि उसे मोह न कह कर प्रेम की संज्ञा दी जाती है। सांसारिक रूप में स्वार्थ के नाते शरीरों एवं प्राणी-पदार्थों के साथ जिसे हम भूल से प्रेम कह देते हैं, वास्तव में मोह ही है।

संसार नाम द्वन्द्व एवं परिवर्तन का है। इसमें अपना कुछ भी नही। प्रारब्धवश जो हमें प्राप्त है या भविष्य में होगा, वे सब भगवान् की थाती (अमानत) रूप में है। "Rubber Stamp पर लगी हुई स्याही सूख जायेगी परन्तु सारा विश्वाटन कर लेनेपर भी कोई प्राणी-पदार्थ ऐसा दिखाई न देगा जिसे हम अपना समझ कर ममत्व को छाप लगा सकें! इनके प्रयोग

करने का तो हमें अधिकार है परन्तु अपना कहने का नहीं।"

मोह वृत्ति इतनी नीच है कि यह हमारी आयु, जीवन एवं खुशी की अवस्था को Road-Roller की तरह पत्थर समझ कर मथ डालती है। विज्ञापन-पत्र (Pamphlet) की तरह जीव मोह द्वारा ऐहिक प्राणी-पदार्थों से ऐसे चिपक जाता है, जिसको विलग करने से पृथक् तो नहीं होने पाता अपितु हृदय-विदीर्ण अवश्य हो जाता है। विज्ञापन-पत्र किंवा टिकटें (Stamps) बिना पानी के जैसे नहीं छूटतीं, ठीक इसी प्रकार मोह बिना वाणी के नहीं जाता! कुरुक्षेत्र के रणाङ्गण में मोहग्रस्त अर्जुन को सर्वप्रथम भगवान्‌जी ने ज्ञान का ही उपदेश किया था, कर्म या भक्ति का नहीं। श्रीगीताजी के दूसरे अध्याय के आरम्भ में ११वें श्लोक से ३०वें श्लोक तक अर्जुन को नित्य-अनित्य, सत्-असत्; स्थावर-जङ्गम तथा देह-देही का ही बोध करवाया। इस विवेक के गुण को 'साधन-चतुष्टय' में भी सबसे पहले रखा गया है। अविद्या एवं अज्ञानता में वस्तुयें सत्य, नित्य, एवं सुखदायी प्रतीत होती है, इसी से मोह की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत आत्म-अनात्म विवेक द्वारा मोह की निवृत्ति होती है। साधक के मन एवं बुद्धि में

देह-देही का, गिरी-छिलके का, घोड़े छकड़े का; पानी-बुलबुले का तथा स्वर्ण और आभूषण का अन्तर जब भली-भांति बैठ जाता है तो वह भाग्यशाली सदा-सर्वदा के लिये मोह-पाश से मुक्त हो जाता है। साधक का मोह को छोड़े बिना गुजारा भी तो नहीं होता!

प्रिय गीतापाठक! संसार में अज्ञानता के कारण मोह फैला हुआ है और जब तक अज्ञानता के विपरीत जीव ज्ञानार्जन नहीं कर लेता तब तक मोह किसी भी अवस्थामें हमें छोड़ ही नहीं सकता। बात ठीक ही तो है, जैसेकि अन्धेरेको भगानेके लिये प्रकाश की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार अज्ञानता से उत्पन्न मोह को दूर करने के लिये यथार्थ ज्ञान अनिवार्य रूप से चाहिये ही। इसीलिये कहा जाता है—

'ज्ञान प्राप्त—मोह समाप्त'

अतः द्वितीय अध्याय से हमे ज्ञान प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

(८)

❋ गुरु-शिष्य सम्बन्ध ❋

'शिष्यः ते अहं, शाधि माम् त्वां प्रपन्नम्'

गीता—२/७

-अर्थात्-

मैं चेला हूँ मेरी मदद कीजिये,

जो हो नेक रास्ता बता दीजिये।

—❋❋—

प्रिय-गीता पाठक !

भारतमें गुरु-शिष्य का सम्बन्ध श्रद्धा का है जोकि बहुत उच्चकोटि का, परम पवित्र एवं अद्वितीय माना गया है। केवल शारीरिक रूपसे ही नहीं बल्कि मनसा-वाचा-कर्मणा गुरु की यथार्थ शरण ग्रहण करके, शिष्य अपने मन एवं बुद्धिके स्तरको इतना ऊँचा उठा लेता है, जहाँ पहुँचकर वह अपने गुरुदेवजी द्वारा अथक परिश्रम से एकत्रित की गई आध्यात्मिक-सम्पत्ति को लूटना प्रारम्भ करता है। प्रेम एवं दया के सिन्धु गुरुदेव, शिष्य के प्रति पूर्ण सहानुभूति प्रगट करके उसके अनेक संशयोंका निवारण कर देते हैं, जिससे वह जन्म-मरण के चक्कर से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है।

गुरु-शिष्य की परिपाटी अनादि काल से चली आ रही है, जिसमें शिष्य अपने गुरुदेवजी से परमात्म-तत्त्व को समझ कर अध्यात्मवाद को जीवित बनाये हुए हैं। गुरुदेवजी का प्रेमपात्र बनने के लिये आवश्यकता है अर्जुन की नाईं आत्म-समर्पण की। जैसे आत्मज को पिता का प्रेम प्राप्त होता है, इससे भी कई गुणा गुरुदेव अपने शिष्यको प्रेम-पोषित कर के उसे निर्भीक, निश्चित एवं आत्मस्थ बना देते है। उच्चकोटि के शिष्य अर्जुन ने जैसे अपने-आपको जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णके समर्पण किया, आइये! हम भी अपनी ऐहिक कामनाओं वासनाओं एवं तृष्णाओं द्वारा बुझे हुए अन्तःकरण के दीपक को गुरु-शरणागति द्वारा फिर से प्रदीप्त कर लें अब रही अर्जुन की बात :—

अज्ञानताजनित मोहाधीन हुआ-हुआ अर्जुन जब युद्ध के विरुद्ध नाना प्रकार की निराधार युक्तियाँ देता देता थक गया तो थोड़ी देर मौन रखते हुए इस परिणाम पर आन पहुँचा कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ वे सब अण्ट-शण्ट एवं अनर्गल बातें हैं। अतः जगद्गुरु भगवान्जी के अज्ञानता-निवारक श्रीचरणों में गिर पड़ा और अनायास आन्तरिक भावों को शब्दों के माध्यम से प्रगट करता हुआ कहने लगा—'शिष्यः ते

अहस।

अब प्रश्न उठता है कि शिष्य कब बना जाता है? क्यों बना जाता है और कैसे बना जाता है? आओ, जरा सोचें :—

*** शिष्य कब बना जाता है? ***

जब सांसारिक नाना प्रकार के दुःखों एवं क्लेशों की मार खा-खा कर मनबुरी तरह चहुँ ओरसे उपराम हो जाता है तथा उसे ऐहिक रूप से किसी भी ओर से शान्ति-सुख मिलने की रञ्चकमात्र भी सम्भावना नहीं रहती तब, केवलमात्र तब ही कोई अहोभाग्यशाली मानव अपनी दानवता को छोड़ कर देवत्व को धारण करने के लिये किसी श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेवजीकी सदा-सदा के लिये शरण ग्रहण करने में अधिकारी समझा जाता है।

—याद रहे—

जब तक ऐसी मानसिक अवस्था बन नहीं जाती तब तक अपरिपक्व अवस्था में आत्म-समर्पण करना ठिठोली एवं उत्तम संन्यासाश्रम का अनादर ही कर के पाप का भागी बनना होगा।

*** शिष्य क्यों बना जाता है? ***

जब मन की उपर्युक्त सराहनीय अवस्था बन जाती

है, तब केवल 'खाओ-पीओ-मौज उड़ाओ (Eat, drink and be merry)' के भाव के विरुद्ध मन में एक अपरिहार्य क्रान्ति ज्वालामुखी पहाड़ की ज्वाला की तरह उठ खड़ी होती है। इस विचित्र दशा में मानव अपने लोक-परलोक सुधारने एवं अपना पूर्ण कल्याण करने के लिये एक विशेष प्रकार की दैवी प्रेरणा प्राप्त करने लगता है। तब, केवलमात्र तब ही ऐसा कल्याण-कामी जीव मोक्ष-प्राप्ति के लिये किसी अनुभवी महात्मा के चरणों में बूढे बाबा की लाठी के समान दण्डवत् प्रणाम करने के लिये बाध्य-सा हो जाता है। अजी नहीं, उससे किसी उच्चकोटि के महात्मा की छत्र-छाया लिये बिना रहा भी तो नहीं जाता।

—क्योंकि—

मुहब्बत की नहीं जाती,
मुहब्बत हो ही जाती है।
यह शोला खुद भड़क उठता है,
भड़काया नहीं जाता ॥

—:*:—

❀ शिष्य कैसे बना जाता है ? ❀

स्मरण रहे—

शिष्य बनने के लिये निम्नाङ्कित गुणों का होना

न केवल आवश्यक है अपितु अनिवार्य भी है। अतः कल्याणकामी साधक के लिये यह परम आवश्यक हो जाता है कि इन गुणों को अन्तःकरण में लाने के लिये भागीरथ पुरुषार्थ करे और जबतक ये गुण भली-भाँति सिर चढ़ कर बोलने न लग जायें तब तक किसी श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेवजी की शरण में जा कर आत्म-समर्पण करने का भाव स्थगित करते रहना चाहिये। यदि साधककी भावना शुद्ध एवं विमल होगी तो ये गुण कुछ ही समय में उसके अन्तःकरण में प्रवेश कर जायेंगे। अतः घबराने, ऊबने एवं उतावले होनेकी आवश्यकता नहीं :—

(१)

जिन गुरुदेवजी के श्रीचरणों में आत्म-समर्पण करने का दृढ़ सङ्कल्प हो चुका हो—उनके आश्रम में समय-समय अनुसार जाकर कुछ दिनों के लिये निवास करना चाहिये तथा गुरुदेवजी की मनसा-वाचा-कर्मणा (दिल-श्रो जान से) 'सेवा-शुश्रूषा' करते हुए उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहिये।

(२)

'विनम्रता' के गुण को रोम-रोम में बसा लेने की चेष्टा करनी चाहिये तथा अपने महाराजजी के आश्रम

में प्रत्येक आश्रम-निवासी, भले ही अवस्था में छोटे हो या बड़े—विनम्रता का व्यवहार करने का स्वभाव बना लेना चाहिये। कोई अगर शुष्क शब्दों का प्रयोग भी करे तो भी विनम्र बने रहना चाहिये। इस गुण का होना सचमुच, बहुत-बहुत जरूरी है। साधकको पग-पग पर इस गुणकी आवश्यकता होती है। विनम्रता के कई स्तर हैं। यथा—

(क) शारीरिक विनम्रता

(ख) वाचिक विनम्रता

(ग) मानसिक विनम्रता

(घ) बौद्धिक विनम्रता

—याद रहे—

इसी गुण की महिमा गाते हुए हमारे पंजाब के उच्चकोटि के आरिफ (ब्रह्मज्ञानी) 'बाहूजी' इस प्रकार कहते हैं—

जे जींवदियाँ मर रहना होवे,
तां भेस फ़कीरां करिये हू।
जे कोई सुट्टे गुद्दड़ कूड़ा,
वांग अरूड़ी सहिये हू॥
जे कोई कड्ढे गाली मेहना,
उसनूं वी जी-जी कहिये हू।

मालिक दे हथ डोर असाडी, ओ 'बाहू' !
ओ जिवें रखे त्यों रहिये हू ।

(३)

यह भाव अन्तःस्तल में खूब अविचल रूप से दृढ हो जाना चाहिये कि 'गुरुदेव साक्षात् भगवान्' के ही रूप हैं। अतः उनका हर बोल शिष्य के लिये भगवान्-तुल्य समझा जाना चाहिये ।

(४)

गुरुदेव महाराजजी की आज्ञापालन करने के लिये सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों की रञ्चकमात्र भी परवाह नहीं करनी चाहिये। मन में यह भाव सदा-सदा के लिये बिठा लेना चाहिये—

'Not to reason why ? but to do & die'

(५)

गुरुदेवजी की आज्ञा पालन से बढ़कर जप, तप स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओंकी महत्ता नहीं बढ़ानी चाहिये। शिष्य के लिये उनकी आज्ञा पालन ही सबसे बड़ा एवं मुख्य कर्तव्य हो जाना चाहिये। जैसा कि कहा गया है—

'Duty first & duty last,
Duty must be done at any cost.'

(६)

श्रीगुरुदेवजी का आदर केवल दण्डवत् प्रणाम में ही नही समझना चाहिये, अपितु शिष्य को मन में यह बिठा लेना चाहिये कि—

'Respect means to obey.'

—अर्थात्—

आज्ञा पालन ही यथार्थ रूप मे गुरुदेव जी का आदर है।

(७)

शिष्य को गुरुदेवजी से अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं समझनी चाहिये, अपितु अपनी बुद्धि, मन एवं शरीर को उन्ही का ही अङ्ग समझना चाहिये। तब ही आत्म-समर्पण सफल माना जाता है।

(८)

'ब्राह्म-मुहूर्त्त' (प्रातः २ से ४ बजे तक) में उठने का स्वभाव बना लेना चाहिये तथा गुरुदेव जी से उठने से पूर्व ही स्नानादि से निवृत्त होकर उनकी सेवा के लिये तत्पर हो जाना चाहिये।

(९)

आत्म-समर्पण करने से पूर्व ही 'युक्ताहार विहार' का साकार रूप बन जाना चाहिये।

(१०)

अपने कल्याण की इच्छा के अतिरिक्त अवशेष सब प्रकार की इच्छाओं एवं कामनाओं को सदा-सर्वदा के लिये भस्मीभूत कर देना चाहिये और अपने मन की पट्टी पर यह भाव अङ्कित कर लेना चाहिये कि—

'जिनको अपनी ख्वाहिशों की परवरिश मन्जूर है।
मारफ़त का रास्ता उनकी नजर से दूर है॥

(११)

अपने-आपको गुरुदेवजी के चरणों में भेंट करने से पूर्व यह भाव अच्छी प्रकार अन्तःकरण में बिठा लेना चाहिये—

हे गुरुदेव!
चरणों पर अर्पित है इसको,
चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है,
ठुकरा दो या प्यार करो॥

—अथवा—

मेरा मुझ में कछु नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

(१२)

श्रीमद्भगवद्गीता जी का स्वाध्याय अर्थ एवं

व्याख्या सहित कई बार कर लेना चाहिये। यदि हो सके तो श्रीगीता जी का प्रत्येक श्लोक कण्ठस्थ कर लें।

(१३)

नकारात्मक वृत्तियाँ यथा—काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहङ्कार, द्वेष, मत्सर इत्यादि को विवेक एवं विराग की ज्वाला में यथा सम्भव भस्मीभूत कर देना चाहिये और बार-बार मन-ही-मन यह कहना चाहिये कि—"मैं इन आभ्यान्तिरक चोरों से गुरुदेव महाराज जी की अपार अनुकम्पा एवं कृपा से सुरक्षित हो चुका हूँ। अब ये तस्कर मेरा रञ्चकमात्र भी कुछ बिगाड़ नहीं सकते। मैं अब सदाके लिये सुरक्षित हूँ! सुरक्षित हूँ!! सुरक्षित हूँ!!!"

(१४)

ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर अपने गुरुदेव महाराजजी को अपने अन्तर्यामी समझते हुए बड़ी विनम्रता एवं प्रेम-पूर्वक प्रतिदिन यह प्रार्थना करनी चाहिये—

'मुझ में समा जा इस तरह,
तन प्राण का जो तौर है।
जिसमें न फिर कोई कह सके,
मैं और हूँ तू और है॥

(१५)

श्रीगीताजी के चौथे अध्याय के ३४वें श्लोक पर अगणित बार विचार करते रहना चाहिये—

तत् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम् ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः॥

—अर्थात्—

जो ज्ञानी हैं तू उनकी ताज़ीम कर,
हुसूल उनसे उनकी की तालीम कर।
समझ उनसे सब कुछ वो-हुनर-औ न्याज़,
तू कर उनकी सेवा, तू सीख उनसे राज़॥

गुरु-शिष्य के अति पवित्र एवं उज्ज्वल सम्बन्ध को सम्मुख रखते हुए हमारे एक भारतीय कवि ने क्या ही अच्छा कहा है। आप भी ज़रा ध्यान दें—

संसार में यह जोड़ी, किस शान से निकली है।
इक प्रेम का बादल है, इक प्रेम की बिजली है॥

(६)

* विचारवान् को शोक कैसा ! *

अशोच्यान् अन्वशोचः त्वं प्रज्ञावादान् च भाषसे।
गतासून अगतासून् च न अनुशोचन्ति पण्डिताः ॥
गीता—२/११

देहधरे का गुण यह सब काहू पे होय।
ज्ञानी भुगते हँस के, अज्ञानी भुगते रोय ॥

जी हाँ, शोकजनित परिस्थितियाँ विचारवान् एवं मूढ व्यक्ति के सम्मुख एक समान प्रगट होती है परन्तु दोनों पर इसका प्रभाव अलग-अलग पड़ता है। आइये, जरा विचार करें, ऐसा क्यों ?

सृष्टिकर्ता ने इस सृष्टि की रचना द्वन्द्वात्मक रूप से की है। यदि आज ग्रीष्म है तो कल शरद् यदि आज शिशिर है तो बसन्त पीछे से आकर मात कर देती है। इसी तरह मान-अपमान, लाभ-हानि; सुख-दुःख एव जन्म-मृत्यु प्रभृति का क्रम भी निरन्तर चलता दिखाई देता है। प्रकृति के परिवर्तन का यह अटल नियम होकर ही रहता है। मूढ पुरुष का इसके लिये शोकातुर होना म नो उसका अपने जीवन रूपी वृक्ष की योग्यता, दक्षता, साहस, उत्साह तथा हँसी-खुशी

की हरियाली को लूत की वेल से सुखा देना है। ठीक इसके विपरीत, विचारवान् इस प्रकृति के परिवर्तन का आधार परमात्मा को जानकर, नाशवान् एवं ससीम प्राणी-पदार्थों के ह्रास एवं विनाश के लिये शोक नहीं किया करते। जिन्होंने संसार के सार सत्-चित्-आनन्द भगवान् को जान लिया, उनके लिये हर परिस्थिति एक समान होकर रह जाती है।

दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक से गीता का प्रारम्भ माना जाता है, जहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण ने हत-वीर्य अर्जुन को सार-तत्त्व का सीधा ज्ञान प्रदान किया कि इन दिखाई देने वाले देहधारियों का नाश एवं पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है, इसलिये इनका शोक करना उचित नहीं। अर्जुन जिसको मृत्यु नाम की संज्ञा दे रहा है, यथार्थ में वह केवलमात्र परिवर्तन ही है। इसलिये विचारवान् मरो और जीतों का शोक नहीं करते। अर्जुन पर इस उपदेश का प्रभाव १८वें अध्याय के अन्त में देखने को मिलता है।

मनुष्य जीवन का आधार उसके शुभ या अशुभ विचार ही हैं। बुद्धि द्वारा जब यह दृढ़ निश्चयी हो जाता है कि संसार का सार परमात्मा ही है, तब मन में नकारात्मक वृत्तियों के पनपने का स्थान नहीं रह

जाता और जीवन उज्ज्वल एवं शान्तमयी बन जाता है।

प्रिय गीता पाठक !

शास्त्रकार लिखते हैं कि मूढ के लिये पग-पग पर दुःख एवं शोक के कारण उपस्थित होते हैं परन्तु विचारवान् के लिये एक भी नही। जिन्होने ईश्वर को अपना आधार बनाकर उनकी आराधना में अपना जीवन लगा दिया तो फिर उनके लिये शोक कैसा ! हाँ, शोक तो उन्हें करना चाहिये जो ईश्वर विमुख हों, पापी, दुराचारी, अत्याचारी, कदाचारी किंवा व्यभिचारी हों। समय एवं परिस्थितियाँ वही होती हैं परन्तु उन्हें ग्रहण करने का ढंग अलग-अलग होता है। इसी विचार-प्रणाली से बुद्धिमान् एवं मूढ़ में अन्तर दिखाई देता है।

विचारवान् को इसलिये दुःख का अनुभव नही होता क्योंकि उसने अपने मानसिक स्तर को शरीर, मन एवं बुद्धि से ऊपर उठा लिया होता है, जब कि मूढ व्यक्ति इन्हीं कारणो को लेकर शोकाकुल रहता है।

विचारवान् को अपनी प्रारब्ध पर पूर्ण विश्वास होता है। उसके मन और बुद्धिमें यह बात भली-भांति

बैठ जाती है कि—

'समय से पहले और भाग्य से अधिक न आज तक किसी को कुछ प्राप्त हुआ है और न होगा।'

विचारवान् हर क्रिया एवं घटना में अपनी भलाई समझता हुआ अपने मन को कभी भी शोचनीय दशा में नहीं पाता। दूसरे अध्याय में भगवान् जी दुर्द्धर्ष अर्जुन को बार-बार यही पाठ पढ़ा रहे हैं—

'न त्वं शोचितुम् अर्हसि'

इस प्रकार हमें भी विचारवान् बनकर भगवान् जी के इस 'गीतोपदेश' को हृदयंगम कर लेना चाहिये।

साँसारिक रूप से तो जीव शोक के कारणों से कभी छूट ही नही सकता। वह जब भी शोक से मुक्त होगा भगवान् का प्यारा बन कर ही मुक्त होगा। एक विचारवान् लङ्गोटो बंध फ़कीर तो शान्त देखा जा सकता है, परन्तु मुकुटधारी सम्राट् सदा अशान्त ही रहता है। विचारवान् हुए बिना जीव कभी भी शान्त नही हो सकता और ये विचार मिलते हैं— गुरुजनों, साधु, महात्माओं एवं महापुरुषों के सम्पर्क एवं सत्सङ्ग द्वारा। सत्सङ्ग में आकर भटका हुआ जीव शान्ति की राह—सत्यमार्ग को पकड़ लेता है, जबकि मूर्ख जिन कर्मों से दुःख पा रहा है, उन्हें ही

बार-बार करके शोकातुर बनता चला जाता है। कहा भी जाता है—

न सुख विच गृहस्थ दे, न घर छोड गयाँ।
सुख है विच विचार दे, संतां शरणी पयाँ॥

जिन प्राणी-पदार्थों का वियोग होकर ही रहना है विचारवान् उन्हे पहले ही अपने मन से हटा लेता है। इसके पश्चात् किसी भी प्रकार की परिस्थिति के आने पर वह अपनी सहज अवस्था से विचलित नही होता किंवा शोकातुर नही होता। ऐहिक प्राणी-पदार्थों के साथ व्यवहार करता हुआ भी विचारवान् उनमे स्थित वास्तविक अविनाशी सत्ता परमात्मा को क्षण-मात्र भी भूलता नही। रेल के डिब्बो पर लगा हुआ 'To Return' का 'Lable' उसे हर ऐहिक प्राणी-पदार्थ पर स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वह अपना मन उनसे सदा-सर्वदा के लिये हटा कर एक नित्य, सत्य, अपरिच्छिन्न, असीम तथा सर्वज्ञ, भगवान् मे लगा देता है और निश्चिन्त अवस्था मे पहुँच कर पुकार उठता है—

'गुणातीतोऽहम्' 'द्वन्द्वातीतोऽहम्'

इस प्रकार कोई भी विचारवान् इन शोकजनित कारणो से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है।

—फलत—

हमारे भगवान्‌जी दुःखो का उन्मूलन करने के लिये क्या ही सुन्दर एवं सराहनीय ढग से अर्जुन को मीठा व्यंग्य कसते हुए फरमा रहे हैं—

अशोच्यान् अन्वशोचः त्वं प्रज्ञावादान् च भाषसे ।
गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति पण्डिता ।

—अर्थात—

तू बातों के आकिल न हो दिल मलूल,
न कर उनका ग़म जिनका गम है फ़ज़ूल ।
सिवायें न दाना को रंज ओ अलम,
मरे का न सोग और न जीते का गम ॥

(१०)

* यह भी न रहेगा *

'Even this will pass away'

'आशाओं की धूप-छाँव में,
मैंने कितना समय गवाया।
नभ पर घिरी घटाओंके कारण,
यह भी मैं जान न पाया॥
कि पीछे से चुपके- चुपके,
सूरज ढलता रहा निरन्तर।
पता नहीं था यह पथ कैसा,
पर मैं चलता रहा निरन्तर॥'

—★★—

हर परिस्थितिका डट कर मुकाबला करने के लिए भगवान्‌जी ने एक ही उपादेय फार्मूला बतलाया है और वह यह है कि:—

'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत'

गीता—२/१४

—अर्थात्—

ये कैफियतें आनी जानी हैं ये,
सहो जा खुशी से कि फ़ानी हैं ये।

भाई! प्रकृतिके नियम तो बदलवेसे रहे! इस प्रकृति को तो जब से भगवान् ने रचा है, तब से ले कर अब तक ये नियम अबाधगति से किसी छोटे-बड़े की परवाह न करते हुए पवन के प्रचण्ड वेग के समान भागते चले जा रहे हैं। जो इनके अनुकूल चलता है वह-ही शान्ति-पूर्वक अपने जीवन के दिन गुजार लेता है, विपरीत इसके जो इन नियमों का अतिक्रमण करता है वह बुरी तरह दुखी एवं चिन्तित होता, एड़ियाँ रगड़ता-रगड़ता जैसे-कैसे अपने जीवन को बहुत कठिनता से धकेलता-व्यतीत करता है। मेरे गुरुदेव लोकमान्य स्वामी राम-तीर्थजी महाराज इस विषय में डंके की चोट से पुकार कर कहा करते थे :—

खुदा को पूजने वाले,
मुजस्सम प्यार होते हैं।
जो मुनकर हैं जमाने में,
जलील-ओ ख्वार होते हैं॥

—अतः—

दैवी प्रकृति नाना प्रकार के द्वन्द्वों के समुदाय को दिन-रात ढो रही है और सदा ढोती ही रहेगी। अब बात है इन द्वन्द्वों में खुश रहने की। ऊपरी दृष्टि से तो यह बात बहुत विचित्र लगती है परन्तु गम्भीरता-

पूर्वक चिन्तन करनेसे हम इसके साथ सहमत हुए बिना रह नही सकते। बुद्धिमान् एव चतुर पुरुप शरद्-ऋतु के आने से पूर्व ही उसका मुकाबला करने के लिये हर प्रकार का प्रबन्ध कर लेते है। आङ्गल भाषा मे एक कहावत प्रसिद्ध है—

'To be forewarned is to be forearmed.'

अर्थ :– *पहले ही चेत जानेका अर्थ है कि आने वाले समय की तैयारी पहले से कर लेना।*

इस नियमानुसार बुद्धिमान् पुरुषके लिये यह परमावश्यक हो जाता है कि प्रकृति की चञ्चलता, अनित्यता, एव नश्वरताको देखकर इनसे बिल्कुल उपराम हो जाना चाहिये तथा साथ-ही-साथ अपनी अविनाशी सत्ता आत्मा का अनुभव करनेके लिये भागीरथ पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। जिस अहोभाग्यशाली मानव का उद्देश्य आत्मानुभव किंवा प्रभु-प्राप्ति बन चुका है वह सुख-दुख, हानि-लाभ; मान-अपमान; सर्दी-गर्मी; सयोग-वियोग तथा जन्म-मरण के आने पर—जो कि किसी भी समय आ सकते हैं, अपनी आन्तरिक अवस्था से रञ्चकमात्र भी विचलित नही होता, अपितु वेदान्त केसरी बना हुआ सहर्ष सहन करता चला जाता है। उसकी सहनशीलता हिमालय पर्वत की भाँति अडिग होती है।

अजी, सहन तो करना ही पड़ता है, भेद इतना ही

है कि आत्म-अभिमुख सहर्ष सहन करता है जबकि सृष्टि-अभिमुख अत्यन्त दुःखी हो कर सहन करता है। अरे बाबा! क्या मजा आया—सहन भी किया और वह भी-रो-रो कर। वाह! कहावत प्रसिद्ध है—

'बकरी ने दूध दिया, मेंगने डाल कर'

स्मरण रहे—

इस संसार के परिवर्तनशील स्वभाव को देख कर एक दार्शनिक महापुरुष ने कितना ही अच्छा कहा है-

'Change is the unchangeable law of Nature.

-अर्थात्-

'परिवर्तन'—इस दैवी प्रकृतिका अपरिवर्तनीय नियम है।

विचारवान् इस अटल सिद्धान्त को सदा के लिये अपनी बुद्धिमें दृढ़ करता हुआ संसारके इस विचित्र द्वन्द्व-चक्र से अपने-आपको उपराम कर लेता है और तटस्थ हुआ-हुआ विचरता है। मन की इस वैराग्यभरी अवस्था में संसार की कोई भी प्रिय-अप्रिय घटना उसके मनपर प्रभाव नहीं डाल सकती। इसी अवस्था को अपनाने के लिये हमारे भगवान्जी फ़रमा रहे हैं :—

'आगामापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत'

अर्थ :— *हे भक्तवर अर्जुन! मात्राओं के ये सब सम्बन्ध आने-जाने वाले और अनित्य हैं, इसलिये तू इनको सहन कर! सहन कर!! सहन कर!!!*

(११)

तत्वदर्शी-विज्ञानी

—:o:—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥
गीता—२/१६

—अर्थात—

जो बातल है मौजूद होता नहीं,
जो हक़ है वो नाबूद होता नहीं ।
वो हैं बूद-औ नाबूद से बाख़बर,
हक़ीक़त पे रहती है जिनकी नज़र ॥

—:o:—

हक़ीक़त ज़रा होशमन्दी से देख ।
बराबर हैं सब घर बलन्दी से देख ॥

—:o:—

दैवी प्रकृति का यह अटल नियम है—

कारण के अनुसार ही कार्य होता है और कार्य कारण परस्पर अभिन्न होते हैं। (Cause and effect always go hand-in-hand.) प्रकृति के इसी अटल नियम के अनुसार इस दैवी प्रकृति का मुख्य कारण

(Efficient cause) सर्वशक्तिमान् भगवान्‌जी हैं और यह प्रकृति उनका कार्य (effect) है अतः परस्पर अभिन्न हैं। जैसे—

(१) स्वर्ण के कार्य आभूषण स्वर्णसे पृथक् नहीं हो सकते।

(२) बुद्‌बुदे, भँवरे एवं तरंगें जल के कार्य होने से जल से अभिन्न हैं।

(३) मृत्तिका के नाना प्रकार के पात्र मृत्तिका से किसी भी रूप में अलग नहीं हो सकते।

(४) सूत से बने हुए नाना प्रकार के वस्त्रों को सूत से भला कौन पृथक् कर सकेगा!

—इसी प्रकार—

यह प्रकृति भगवान्‌से सदा अभिन्न है। इस संसार के प्रपञ्च में ग्रस्त साधारण मानव भगवान् के इस रहस्य को न समझते हुए नाम-रूपों को ही सब कुछ जान कर दिन-रात उन्हीं में ग़लतान रहते हैं, परन्तु तत्त्वदर्शी किंवा आत्मानुभवी इस रहस्य को न केवल बौद्धिक रूपसे जान जाता है अपितु उसे अपरोक्षानुभूति द्वारा निजी अनुभव भी हो जाता है कि परमात्मा अनेक रूपों में भास रहे हैं।

—अतः—

वह सदा-सर्वदा नानत्वमें एकत्व, भिन्नतामें एकता तथा बहुमे एककी झाँकी लेता हुआ गद्गद होता रहता है। हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णजी श्रीगीताजी के दूसरे अध्याय के १६ वें श्लोक मे उसे तत्त्वदर्शीके नाम से पुकार रहे हैं। प्रिय गीता-पाठक ! अब हमें यह विचार करना होगा कि—

तत्त्व क्या है ?

इस अद्भुत प्रकृतिमे जितने भी प्राणी-पदार्थ हमारे भगवान्जी ने रचे हैं—ये दो वस्तुओ के मिलाप से बने हुए हैं। यथा—

(क) जड़ (Matter)
(ख) चेतन (Energy)

आज का वैज्ञानिक (Scientist) भी यही पुकार कर रहा है। यथा—

"Every object in the world has two types of properties. (a) the essential and (b) the non-essential. A substance can remain even when its 'non essential' qualities are absent, but it cannot remain without its 'essential' property. For Example—the colour of the flame the length and width of tongues of

flame, are all the 'non-essential' properties of fire, but the essential property of it is heat."

-अर्थात्-

प्रकृति की हर वस्तु के दो गुण हुआ करते हैं—

(क) आवश्यक

(ख) अनावश्यक

कोई भी वस्तु अनावश्यक गुणो के बिना तो रह सकती है परन्तु आवश्यक गुणों के बिना वह क्षणमात्र भी टिक नही सकती। यथा—अग्नि की लम्बाई, चौड़ाई तथा लाल रंग तो अनावश्यक गुण हैं, परन्तु इसकी 'उष्णता' आवश्यक एवं अनिवार्य गुण है। उष्णता के बिना अग्नि एक क्षण भी रह नही सकती। अतः प्राणी या पदार्थ में जो आवश्यक गुण (The essential property) है उसे ही तत्त्व, सार किंवा यथार्थता कहा जाता है और जो बाह्य नाम-रूप इत्यादि दिखाई देते हैं, ये अनावश्यक गुण (The non-essential property) कहे जाते हैं। जैसे हम अपने प्रियतम और निकटतम शरीर को ही ले ले। इसमें अनावश्यक गुण (The non-essential property) नाम-रूप है और आत्मा आवश्यक गुण (The essential property)

है। यही नियम (Formula) इस संसार के प्रत्येक प्राणी-पदार्थ पर लागू होता है।

स्मरण रहे—

इस संसार के मनुष्यों को हम दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(क) नर-पशु (Animal man)

(ख) देव-पुरुष (Super man)

जो नर-रूप में पशुओं की तरह जीवित हैं अर्थात् जिनके जीवन का उद्देश्य केवल खाना-पीना और मौज उड़ाना (Eat, drink and be merry) पर ही आश्रित है, वे तो केवल नाम-रूपों को ही सत्य मान कर सारा जीवन दुःखों, क्लेशों एवं संकटों के हिंडोले के उतार-चढ़ाव (Ups and downs) में ही व्यतीत करते हुए नष्ट कर देते हैं। इसके विपरीत धन्य हैं वे देव-पुरुष जो इस संसार के प्रत्येक प्राणी-पदार्थ में 'तत्त्व' को निहार-निहारकर अपना जीवन 'सर्वहिताय' एवं 'सर्वसुखाय' गुजारते हुए एक उच्चकोटि का आदर्श जीवन बना कर अपने सर्वव्यापी भगवान् की सत्ता में तल्लीन हो जाते हैं। ऐसे बड़भागी एवं धरती पर चन्द्रमा के समान जगमगाते हुए विचरने वाले उच्चकोटि के महापुरुषों को हमारे गीतागायक भगवान्‌जी अपनी

दिव्य एवं अद्वितीय गीताजी के दूसरे अध्याय के १६वें श्लोक में 'तत्त्वदर्शी' के नाम से पुकार रहे हैं।

धन्य, ऐसा सार पारखी! आह! आजकल के इस कलिकाल में हमारे भारत की पावन, पुनीत एवं धर्म-भूमि पर ऐसे 'तत्त्वदर्शी' बहुत कम दिखाई देते हैं। वे अपने अनुभव के आधार पर कहते हुए सुनाई देते हैं—

ऐ भारतवासियो!

'Not the shell, but the Kernal,
Not the body, but the General. (Atma)'

धन्य तत्त्वदर्शी!

धन्य तत्त्वदर्शी !!

धन्य तत्त्वदर्शी !!!

प्रभो!

तेरे भक्तों की भक्ति करूँ मैं सदा।
तेरे चाहने वालों को चाहा करूँ॥

(१२)

★ येन सर्वमिदं ततम्'

"जहाँ पर है छाई हुई जिसकी जात"

—※※—

'वह रहित है नाश से, जिसने रचा संसार है।
नाश उसका कर सके, किसमें भला यह सार है॥'

श्रीगीताजी के दूसरे अध्याय के १७वे श्लोक में हमारे पथ-प्रदर्शक गीता-गायक जगद्गुरु भगवान् श्री कृष्चन्द्रजी महाराज अपने श्रीमुख से उपदेश देते हुए कह रहे हैं—

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

गीता—२/१७

अर्थ—उसको तू अविनाशी जान जिससे यह सब (जगत्) व्याप्त है - उस निर्विकार का नाश कोई नहीं कर सकता।

—अर्थात्—

उसी की बका है उसी को सबात,
जहाँ पर है छाई हुई जिसकी जात।

भला किसकी ताकत है किसकी मजाल,
फ़ना कर सके हस्ती-ए लाज़वाल ॥

प्रिय गीता-पाठक !

सृष्टिकर्ता ने सृष्टि की रचना बड़े विचित्र ढंग से की है। कई अटल नियमों के आधार पर यह सृष्टि स्थित है। उन अटल नियमों में यह एक है—कारण और कार्य सदा अभिन्न होते हैं, उन्हें किसी भी दशा में पृथक् नहीं किया जा सकता। यह नामरूपात्मक जगत् परमात्मा का ही कार्य है और वे स्वयं इसके कारण हैं, इस तथ्य का स्पष्टीकरण निम्नाङ्कित उदाहरणों द्वारा किया जा रहा है—

सर्वप्रथम मकड़ी का ही दृष्टान्त ले लीजिये। वह अपने में से ही तन्तु निकाल कर स्वयं ही जाला बुन लेती है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर भी इस चराचर जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। सृष्टि के कारण ये पाँच तत्त्व और तीन गुण उन्हीं से प्रगट हुए हैं और इनको पृष्ठ-भूमि (Background) में स्वयं भगवान् ही स्थित होकर इन सबको गतिमान कर रहे हैं। इन पञ्चभौतिक प्राणी-पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है परन्तु इस परिवर्तन के मूल कारण परमात्मा में कभी भी परिवर्तन नहीं होता। उन द्वारा जगत्

का इतना निर्माण हो जाने पर भी उनकी अपनी स्थिति ज्यों-की-त्यों हो है। ईशावास्य उपनिषद् में इस भाव को इस प्रकार प्रगट किया गया है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थ—मङ्गल हो। वह सर्वकारण ब्रह्म पूर्ण है। यह दृश्यमान् जगत् भी तत्त्वतः वही होने से पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण ही प्रकट होता है और पूर्ण ही शेष रहता है अर्थात् अधिष्ठान ब्रह्म से अध्यस्त पृथक् नहीं रहता।

'ईशावास्यमिदम् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'

अर्थ—इस संसार में जो कुछ जड़-चेतन पदार्थ समुदाय है वह सब ईश्वर से व्याप्त है।

स्वनामधन्य गुरुदेव 'स्वामी रामतीर्थजी महाराज' भी अपनी अलौकिक मस्तीमें झूम कर यही कह रहे हैं—

जो कुछ दीखे जगत् में, सब ईश्वर में ढाँप।
करो चैन इस त्यागसे, धन लालच से काँप॥

जगत् में ईश्वर की सर्वव्यापकता के भाव को दर्शाने के लिये यहाँ अब अन्य दृष्टान्त दिये जा रहे हैं—

आकाश में एक ही सूर्य चमकता है परन्तु पृथ्वी पर जल से भरे हुए विभिन्न छोटे-बड़े पात्रो मे, नाना

रूपों में अविभक्त-सा दिखाई देता है। इसी प्रकार सृष्टि में नाम-रूप भगवान्‌जी से बने हैं, उनके कारण स्थित हैं और अन्ततः उनमें विलीन हो जाते हैं। भले ही यह समस्त जगत् परमात्मा से विलग प्रतीत होता है परन्तु है सब कुछ परमात्मा में ही। सिद्धान्त भी यही है कि जो वस्तु जिससे निर्मित होती है वह उससे पृथक् नहीं बल्कि वह वही है। अपनी दिव्य मस्ती की झलक दिखलाते हुए 'वेदान्त केसरी स्वामी रामतीर्थजी महाराज' पुनः इस भाव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

आप-ही-आप हूँ याँ ग़ैर का कुछ काम नहीं।
ज़ात-ए मुतलक में मेरी शक्ल नहीं नाम नहीं॥

परमात्मा अपनी सृष्टि में ठीक उसी प्रकार व्याप्त हैं जैसे दूध में घृत, फूलों में सुगन्ध, रूई में तन्तु; मिठाइयों में खाँड और बिजली के नाना प्रकार के उपकरणों में विद्युत्-धारा (Current)। रूई को जैसे जल में डालने से जल उसमें ओत-प्रोत हो जाता है। ऐसे ही जगत् में परमात्मा एकमेक हुए-हुए हैं।

भगवान्‌जी इसी रहस्य को सुस्पष्ट करते हुए श्री-गीताजी के १२वें अध्याय के १६वें श्लोक में कह रहे हैं—

अविभक्तम् च भूतेषु विभक्तम् इव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तत् ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

अर्थ—सब भूतो मे वह अविभक्त विभक्त के समान स्थित है और वह ज्ञेय सब भूतों का भर्ता ग्रसने वाला और उत्पन्न करने वाला है ।

स्वर्ण से निर्मित आभूषण स्वर्ण ही हैं, मृतिका से विरचित बर्तन विभिन्न रूप, रङ्ग और आकार के होते हुए भी मिट्टी ही हैं, जल से बने हुए बुद्बुदे भँवर, तरङ्ग, लहरें जल ही है सूत से बने हुए नाना प्रकार के विभिन्न आकारो वाले वस्त्रों में सूत ही सत् है । इसी प्रकार दिखाई देने वाले नाम-रूप परमात्मा ही तो हैं, उनमे पृथक् नही हो सकते । श्रीगीताजी के सातवें अध्याय के ७वें श्लोक में भगवान् जी स्पष्ट कह रहे हैं—

मत्तः परतरम् न अन्यत् किञ्चित् अस्ति धनंजय ।
मयि सर्वम् इदम् प्रोतं सूत्रे मणिगणाः इव ॥

—अर्थात्—

सुन अर्जुन नहीं कुछ भी मेरे सिवा,
न है मुझ से बढ़कर कोई दूसरा ।
परोया है सब कुछ मेरे तार में,
कि हीरे हों जैसे किसी हार में ॥

ऊपर के दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हुई कि जो कुछ भी है सब एक ही सत्ता है उसके अतिरिक्त कुछ जानना एक भयङ्कर भूल होगी। यदि आभूषणों में से स्वर्ण को, मिट्टी के बर्तनों में से मिट्टी को, बुद्बुदे, भँवर, तरङ्ग में से जल को, सूत के वस्त्रों में से सूत को पृथक् कर दे तो अवशेष ढूंढने पर भी कुछ दिखाई नही देगा। यदि इनकी सत्ता कारण से भिन्न होती या स्वतन्त्र होती तो कारण के निकाल लेने पर भी ये सब दिखाई देते, परन्तु बात इस प्रकार नही है। ज्यों ही हम कारण को कार्य से पृथक् करते हैं तो कार्य तत्काल छू-मन्त्र हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि सब कुछ कारण (परमात्मा) ही है, कार्य (प्रकृति-नाम-रूप) तो केवल वाणी का चलावामात्र है।

'सन्त शिरोमणि गुसाइँ तुलसीदासजी' अपने लोकप्रिय ग्रन्थ 'रामचरित मानस' मे इस भाव को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रगट होई मैं जाना॥

—और—

सिया राममय सब जग जानि।
कर प्रणाम जोरि जुग पाणि॥

वेद भगवान् की एक ऋचा है—

'ॐ इति एतद् अक्षरं इदं सर्वम्'

तो लीजिये, अब हम अपने शरीर को ही ले लें। यह शरीर पाँच तत्त्वों—आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी और तीन गुण—सतोगुण+रजोगुण+तमोगुण से बना है। इस शरीरमे परमात्मा का अभिन्न अंश जीव स्थित है जिसके कारण से सारा शरीर, मन, बुद्धि अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। जब उस सत्ता का स्पर्श इस शरीर से हटता है तो ये सब-के-सब उप-करण तत्काल अपना-अपना कार्य छोड़ कर जड़-से बन जाते है। इसके पश्चात् तो शरीर और खेत में पड़े हुए मिट्टी के ढेले में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। अतः स्पष्ट है कि जो छोटे पैमाने पर इस पिण्ड में सत्ता व्याप्त है वही सत्ता बड़े पैमाने पर ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रही है।

सारांश में मुझे इस विषय मे इतना ही कहना है कि जैसे एक ही चित्रपट (Canvas-Board) पर चित्रकार भगवान् जी का सुन्दर एव मनोहारी चित्र अंकित करता है तथा उसी के साथ-ही-साथ आकाश में स्थित बादलो के दृश्य, वृक्षो पर बैठे हुए पक्षियो के

दृश्य, भगवान् श्रीकृष्ण के चित्र की पृष्ठभूमि में कहीं पहाड़ों के रोचक एवं लुभावने दृश्य और उनमें से गिरते हुए नाना प्रकार के जल प्रपात, धरती पर हरियाली, नाना प्रकार के प्रस्फुटित सुमनों के दृश्य, श्रीचरणों में स्थित मस्ती में अपने परों को फैलाये हुए मयूर के दृश्य, एक ओर घास चरती हुई गायों एवं उनके नन्हें-मुन्ने बछड़ों के दृश्य, एक ओर पग-डण्डी पर हाथमें छोटे-छोटे डण्डे लिये हुए एवं मुस्काते हुए बाल-गोपालों के दृश्य। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के रोचक एवं लुभावने दृश्य चित्रकार खींचता हुआ अपनी चित्रकला की कौशलता का परिचय सुचारु रूप से दे रहा होता है।

—परन्तु—

ये सब छोटे-बड़े दृश्य एवं श्रीश्रीनाथजी की देह-सौष्ठव प्रभृति जैसे एक ही चित्रपट पर ही दिखाये गये हैं।

—ठीक इसी प्रकार—

एक ही सर्वव्यापी भगवान्‌जी के कारण बहु भि-न्नताऐं दिखाई देती हैं। जैसे चित्रपट के न रहने पर ऊपर के सब दृश्य लुप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार यदि भगवान्‌जी सर्व-व्यापकता इस जगत् से लोप कर लें तो

त्रिलोकी को बात तो एक ओर रही एक छोटा-सा तिनका भा ढूंढे जाने पर कहीं दिखाई न देगा। याद आ रहे है भगवान्‌जो के ये शब्द—

मुझ से परे कुछ भी नहीं, संसार का विस्तार है।
जिस भांति मालामें मणि, मुझमें गुंथा संसार है॥

—❀❀—

कृष्ण-ही-कृष्ण! कृष्ण-ही-कृष्ण!! कृष्ण-ही-कृष्ण!!!

—❀❀—

तू-ही-तू! तू-ही तू!! तू-ही-तू!!!

—❀❀—

❀ गीता—गौरव ❀

"आओ! आओ! इस गीता को नित्य सङ्गिनी बनाओ, गीता का नित्यपाठ करो, पाठ करते-करते जितना हो सके इसका प्रवाह हृदयके अन्दर बहानेकी चेष्टा करो, बड़ा कल्याण होगा।"

—❀❀—

याद रखो—जीवन-यापन मे, साधना मैं बडी-बडी बाधायें आती है। उनसे पार हो जाना सहज नहीं होता, पर भगवान् मे चित्त लगाने से-भगवान् पर अनन्य निर्भरता होने से भगवान् की कृपा से मनुष्य सारी-की-सारी बडी-से बडी कठिनाइयो से-बाधाओ से पार उतर जाता है। भगवान् जी कहते हैं-

'मच्चित. सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि' गीता—१८/५८

—❀❀—

(१३)

* न हन्यते हन्यमाने शरीरे *

(यह मरती नहीं गो बदन हो हलाक)

गीता–२/२०

'देह मिटने पर भी यह
मरती न जीती है कभी।
नित पुरातन और अजन्मे के
हैं गुण इसमें सभी॥

—※※—

प्रिय गीताध्यायी! परमात्माने जड़ और चेतन, गुण और दोष मिला कर संसार की रचना की है। कहा भी है :—

'जड़ चेतन गुण दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।'

सृष्टिकर्ता ने बड़े विचित्र ढंग से जड़ (Matter) और चेतन (Energy) का मिलाप किया है। इन दोनों में आकाश और पाताल जितना अन्तर है। यथा—

(१) एक जड़, विकार्य, परिवर्तनशील एवं पाँच तत्त्वों से रचित है तो दूसरा चेतन, अविकार्य, अपरिवर्तनशील एवं स्वयंभू है,

(२) एक परिच्छिन्न देशकालकी परिधि में जकड़ा

हुआ है, तो दूसरा सर्वव्यापी होने से पूर्ण स्वतन्त्र है,

(३) एक स्थानीय है तो दूसरा सार्वभौमिक;

(४) जड (शरीर) को यदि वस्त्र कहे तो चेतन (आत्मा) उस वस्त्र को धारण करने वाला है, और

(५) जड़ को निवास (Residence) तथा चेतनको निवासी (Resident) कहा जायेगा।

इसी तरह जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) के भेद को गिरी-छिलके (Kernal-Shell) घोड़ा-छकड़ा (Horse-Cart), पदार्थ-पात्र (Contents-Container), ध्वनि-प्रतिध्वनि (Echo Re-echo), बिम्ब-प्रतिबिम्ब (Object-Reflection) के दृष्टान्तो द्वारा भी भली-भाँति समझा जा सकता है।

आइये! इस जड़-चेतन के विचित्र रहस्य को एक दृष्टान्त द्वारा जानने का प्रयास करें :—

एक व्यक्ति मन्दिरमे प्रसाद बाँटते हुए भगवान्जी का शुक्र मना रहा था। उसे इस प्रसन्न-मुद्रा में देख कर कुछ भाइयो ने इसका कारण पूछा। वह व्यक्ति कहने लगा—भाई! मैं इसलिये प्रसाद बांट रहा हूँ और भगवान् का शुक्र भी मना रहा हूँ कि पिछली रात

मेरी जान बच गई। हुआ यह कि मेरा घोड़ा चोर चुरा कर ले गये। अब भगवान् का इसलिये शुक्र मना रहा हूँ कि यदि मैं भी घोड़े पर सवार होता तो आज अपने प्राणों से हाथ धो बैठता। लोगों ने पूछा कि यदि आप घोडे पर बैठे होते तो चोर घोड़े को चुराते ही क्यों? तब वह प्राणी स्तब्ध-सा हो कर कहने लगा कि घोड़े को ढूंढते हुए उसके पांव पर बहुत जोर से चोट लगी और चीख निकलते ही उसका स्वप्न टूट गया। सब व्यक्ति खिल-खिला कर हँस पड़े।

भले ही आप भी उसके भोलेपनपर हँस दिये होंगे परन्तु बात इसके है विपरीत। हँसना हमें अपने पर चाहिये। उस बेचारे का तो घोड़ा ही गुम हुआ था, स्वयं को तो उसने खोया नही और हम लोग अपना परिचय पूछे जाने पर अमुक नाम, अमुक पिता, अमुक वृत्ति इत्यादि अपने विषय में बतलाते हैं जोकि केवल शरीररूपी घोड़े का परिचय है और जिसमें सवार को गुम किये हुए होते हैं। हास्यास्पद तो हम हैं न कि वह।

अब हम सीधा अपने विषय पर आते हैं। हमारा यह शरीर पांच तत्त्वों से निर्मित होने के कारण जड

है। इसमें पांच विकारो का होना यथा—जन्म, विकास, ह्रास, रोग और मृत्यु अवश्यम्भावी है। इस शरीर का निर्माण नाश होने के लिये ही हुआ है, (The birth of body is subject to death.) परन्तु इसमें जो आत्मा-जीवात्मा है वह अजन्म होने से अविनाशी है। उस आत्मा की शक्तिसे ही ये छोटे-बड़े शरीर गतिमान् हो रहे है और उसके आभास के हटते ही ये पुन. जड़ हो जाते हैं। जैसे बड़ी-बड़ी भारी मशीनें बिजली के स्पर्श से अपना-अपना कार्य करती है और उसके अभाव में जड़ हो कर खडी हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार हमारे शरीरो का भी हाल है।

जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया गया है, यह जड़-चेतन आपस में घी-खिचड़ी की तरह एकमेक हुए पड़े है। आत्मा-जीवात्मा के कारण ये जड़ शरीर भागते-फिरते दिखाई देते हैं, परन्तु अज्ञानतावश यही समझ लिया जाता है कि ये शरीर ही सब कुछ हैं। आङ्गल भाषा की यह पक्ति अपने में पूर्ण यथार्थता लिये हुए है—

'Things are not what they seem'

हमें दिखाई देता है कि यह अमुक व्यक्ति है परन्तु कहना यह चाहिये कि एक विशेष नाम-रूप लिये हुए आत्मा का यह शरीर है। जिसको हम देखना चाहते हैं

वह इस शरीर के पीछे छिपा हुआ है। कहा भी जाता है कि जो दिखाई देता है वह अपना नही और जो अपना है वह दिखाई नहीं देता। दूसरे शब्दो मे—

'यद् दृष्टम् तद् नष्टम्'

(VISIBLE–PERISHABLE)

कहा जा सकता है। विकार शरीर में होते हैं क्योकि इसका जन्म होता है। आत्माका कभी जन्म नहीं होता इसलिये न इसकी कभी मृत्यु हुई है और न ही कभी इसमें परिवर्तन एवं विकार आता है वस्तुतः शरीर की भी मृत्यु नही होती, हाँ, परिवर्तन अवश्य होता है। (It merely changes the form and not annihilated.) तत्त्व तत्त्वोमे समा जाते हैं। दृष्टान्त मोमबत्ती का लिया जा सकता है। रासायनिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि मोमबत्ती का रूपान्तर होता हैं न कि नाश। (Nothing is lost when the candle burns).

आप कहेंगे कि मृत्यु कभी होती ही नही परन्तु देखने में तो यह आता है कि प्रतिक्षण कोई-न-कोई प्राणी मर रहा है, तो फिर यह क्या है? हाँ भाई! यहाँ ठीक ही कहा जा रहा है, मृत्यु नही बल्कि 'परिवर्तन' हो रहा है। तत्त्वो से शरीर बनते हैं और तत्त्वों में समा जाते हैं, नूर (अलौकिक शक्ति) तो सर्वव्यापी

रूप में है ही, उसका नाश नहीं हुआ करता। केवल अन्दर का सूक्ष्म शरीर ही विभिन्न योनियों में भटकता है।

शास्त्रकार लिखते हैं:—'वह आत्मा अविनाशी है, कभी अपने अनुभव में इसकी मृत्यु नहीं आ सकती। न अब तक आई है और न आगे आयेगी, आप कभी मरे नहीं। अगर मर गये होते तो आज होते कहांसे? तो आप हैं—यह इस बात का प्रमाण है कि आप अब तक कभी मरे नहीं।

संसार को सब वस्तुयें अदलती-बदलती रहती हैं किंतु आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता, आत्मा कभी मरता नहीं और संसार कभी रहने वाला नहीं।'

शरीर की तरह आत्मा-जीवात्मा का जन्म नही होता। यह सदा रहने वाला है। समुद्रमें भँवर, तरङ्ग, लहरे बनती हैं, मिटती हैं परन्तु उनके बनने से समुद्र पैदा नही होता, उनके मिटने से वह नष्ट नही हो जाता। पैदा और नष्ट होती हैं केवल लहरें ही। जिसका जन्म हुआ है, उसको मृत्यु होगी। जिसका जन्म नही उसकी मृत्यु कहाँ से होगी? आत्मा शाश्वत एवं पुरातन है। शरीर के नाश होने पर आत्मा-जीवात्मा का नाश नही होता। मिट्टीके बर्तनो के टूट जावें पर मिट्टी

का कुछ नही बिगड़ता। ऐसा जो जान लेता है, वह यथार्थता के साथ एकमेक हो कर, आवागमन से मुक्त हो जाता है।

ध्यान दें, इस विषय को स्पष्ट करते हुए एक अन्य भारतीय आन्तरिक वैज्ञानिक (Internal scientist) लिखता है—'शरीर में रहने वाला यह आत्मा कभी जन्म नही लेता तथा कभी मरता नही अर्थात् इसकी मृत्यु नही होती। वह नित्य, शाश्वत और सनातन है। अतएव शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नही होता। पश्चात्, यही आत्मा-जीवात्मा अनेक शरीर धारण करता है और इससे केवल उसका शरीर बदलता है, आत्मा नहीं। यह सूचित करते हुए कहते है कि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रको त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है, इससे वस्त्र बदलता है, मनुष्य नही बदलता, इसी प्रकार देहधारी आत्मा पुराने शरीर को छोड़ कर दूसरा नया शरीर धारण करता है।' हमारा पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी यही सिद्ध करता है कि शरीरके नाश हो जाने पर जीवात्मा का कभी नाश नही होता।

"ज्ञानी पुरुष शरीर को ही सब कुछ नही समझते। शरीर उनकी दृष्टि में केवलमात्र वाहन (vehicle) है और आत्मा सवार की भाँति स्थित है। शरीर

शाश्वत एवं शरीर की सत्ता नश्वर होने के कारण इन की विलक्षणता स्पष्ट दिखाई देती है। अतः जीवित एवं मृतक जीवो के लिये शोक करना नितान्त अनुचित है।

श्रीगीताजी के दूसरे अध्याय के श्लोक संख्या २५, २६, २७ एव ३०वे के अनुसार आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य, जन्म-मरण से रहित, अवध्य एवं शाश्वत है, जबकि शरीर विकारशील, परिवर्तनीय एवं क्षणभगुर माना जाता है। यह बा त वीर अर्जुनमे बल-पूर्वक नहीं मनाई गई अपितु सिद्धान्तो द्वारा स्पष्ट की गई है। इन अटल नियमो एव सिद्धान्तों को जान कर कोई भी जीव इस ससार के विचित्र सङ्घर्ष का साहस-पूर्वक एवं शूरवीरता से सामना कर सकता है।

शरीरोके जन्म-मरण एवं परिवर्तित होने का यह विचित्र चक्र चलता ही रहेगा। यह एक ध्रुव सत्य है कि जन्मे हुए की मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म का क्रम जल में बुद्‌बुदो जेसा है। इसलिये प्राणी-पदार्थोंके लिये शोकग्रस्त होना व्यर्थ है और मृत्यु के भय से कांपना भी मूर्खता ही है। नाट्‌यशाला के समान इस संसार में सभी प्राणी-पदार्थ अपना-अपना अभिनय कर के शरीररूपी वस्त्र उतार फेंकते हैं। इसलिये शरीरों के

लिये शोकग्रस्त होना मूढता की पहचान है।

हमारे महापुरुषों की पुकार है—

'जागृहि' 'जागृहि'

अर्थ :—*'मोह निद्रा में न पड़े रहो, ईश्वर का ज्ञान सम्पादन करो और जन्म-मृत्युरूपी समुद्र को पार कर जाओ।'*

सृष्टिकर्ता ने इस सृष्टि की रचना किन्ही अटल नियमों के आधार पर की है। जो इन नियमों का पालन करते है केवल वे ही इन सांसारिक दुःखोसे बच सकते हैं। जब इन्सान जान-बूझ कर इन नियमों का उल्लङ्घन करता है, तो उसकी नियमो के प्रति अन-भिज्ञता कोई बहाना नही मानी जा सकती। कहा भी है—The ignorance of law is no excuse.

आज का व्यथित मानव दूसरी बहुत-सी जान-कारियाँ तो कर लेता है परन्तु प्रकृति के अटल नियमों को न जानने के कारण निराश, हताश एवं उदास हो जाता है। श्रीगीताजी द्वारा इन नियमों की जानकारी करना अनिवार्य है। परन्तु लोग इसे व्यर्थ की बात समझ कर छोड देते हैं। उनकी मन एवं बुद्धिमें संसार को महत्ता देना समाया हुआ है और भगवान्‌जी को महत्त्व बुद्धि देना वे व्यर्थ की बातें मानते हैं। सन्त

(१५)

☆ विवेकशीला बुद्धि ★

(Discriminative Intellect)

'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।'

गीता—२/४१

-अर्थात्-

जो अक्ल-ए इरादी रहे मुस्तकिल,
तो पकडू हो और पुख्ता इन्सां का दिल ।

कठोपनिषद् मे मानव को उसकी यथार्थता का परिचय देते हुए एक बडे रोचक दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझाया गया है—

मानव शरीर रथ के समान है, इन्द्रियाँ इसमें घोडों की तरह युक्त है, मन इन घोडो से गुजरती हुई लगाम को भाँति है, बुद्धि-सारथी (कोचवान्) तथा जीवात्मा सवार की भाँति उस रथ में विराजमान है। शुभ एव अशुभ विषय मार्ग हैं।

अब हम बडी सुगमतापूर्वक अनुमान लगा सकते हैं कि इस रथ, घोड़ो, इन्द्रियो इत्यादि का दारोमदार नितान्त सारथि के ही अधीन है। शरीर रथ है तो सारथि के हाथ में, इन्द्रियाँ रूपी घोडे हैं तो सारथि के अधीन, मन रूपी लगाम है तो सारथि के अधीन।

अतः बुद्धि रूपी सारथि को बहुत ही सजग, सतर्क एवं विवेकसम्पन्न होना ही चाहिये। यदि बुद्धि रूपी सारथि विवेकसम्पन्न नहीं होगा तो सब किया कराया चौपट हो जायेगा तथा मानव जन्म व्यर्थ एवं निरर्थक चला जायेगा।

आत्मानं रथिनं विद्धिः शरीरम् रथम् एव तु।
बुद्धिम् तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहम् एव च॥
कठ० उप०—१, ३, ३

अर्थ—आत्मा को रथ का मालिक जान और शरीर को रथ। पर बुद्धि को सारथि समझ और मन को लगाम।

'गुरुदेव स्वामी रामतीर्थजी महाराज' अपने बड़े ही निराले एवं रोचक ढंग से इस प्रकार समझाते हैं—

'शरीररूपी बग्घो में जीवात्मा ने बैठकर, बुद्धि रूपी साइस (Driver) द्वारा मन की लगाम-डोरी से इन्द्रियोके घोड़े हाँकते-हांकते आखिर जाना कहाँ है?—

'विष्णो परम् पदम्'

[illegible] लक्ष्य तो ब्रह्म-तत्त्व है, ब्रह्म-साक्षात्कार बगैर सरेगी नहीं; अनात्म-दृष्टि दुःखरूप है। खुशी-खुशी (उत्साहपूर्वक) चित्त में स्नेह, मोह इत्यादि रखते हो?

भैया काले नाग को गोद मे दूध पिला-पिला कर मत पालो। सत्य स्वरूप एक परमात्मा को छोड़ और विचार मन में रखते हो? बन्दूक की गोली कलेजे में क्यो नहीं मार लेते, मार्ग मे कहाँ तक डेरे डालोगे? रास्ते मे कहाँ तक मेहमानियाँ खाओगे? यहाँ दुनियाँ सराय में माँ तो नही बैठी हुई? आराम अगर चाहते हो तो चलो राम के धाम में।"

अतः मुझे कवि की अनमोल उक्ति से यह कहना ही होगा—

जिन्दगी इक तीर है, जाने न पाये रायेगाँ।
देख लो पहले निशाना, बादमे खींचो कमाँ॥

ऐ गीता-स्वाध्यायी! दूसरे शब्दो मे कहना चाहे तो कह सकते हैं—

यहाँ नेकी बदी दो रास्ते हैं गौर से सुन ले।
तुझे जाना है जिस मन्ज़िल पे अपना रास्ता चुन ले।
कदम उठने से पहले सोच ले अन्जाम क्या होगा॥

हमारे जीवन के एकमात्र माहिर पथ-प्रदर्शक प्रातः स्मरणीय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज अपने इस सुभाषित वाक्य 'व्यवसायात्मिकः बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' द्वारा समझा रहे हैं कि विवेकशील पुरुष

की बुद्धि का निश्चय सदा एक ही रहता है और वह निश्चय होता है—प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य; भय-अभय; बन्ध-मोक्ष; नित्य-अनित्य तथा उचित-अनुचित की पहचान। साधक इस प्रकार भेद करते हुए एक ही सुदृढ़ निश्चय कर लेता है और उस निश्चयात्मक बुद्धि के निश्चयानुसार आजीवन जूझता रहता है। हर प्रकार की अवस्था एवं बाधाओं का डट कर मुकाबला करते हुए वह अपने निर्धारित किये हुए निश्चय को अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के कार्य को पूरा करने के लिये अपनी ओर से भागीरथ पुरुषार्थ करता है। वह भली प्रकार समझ लेता है कि इस निश्चय को पूरा करने में उसका अपना ही कल्याण है। इस के अतिरिक्त दूसरे संसार सम्बन्धी निश्चय सब भ्रमात्मक एवं अत्यन्त दुःखदायी हैं। वह अपने मन को इस प्रकार कह कर बारम्बार समझाता हुआ खूब उत्साहित करता रहता है—

जो तू है बहादुर समझ ले यही।
कि है तख्त या तख्ता मन्ज़िल मेरी॥

सचमुच, ऐसे दृढ़ निश्चयी साधक की दयालु-कृपालु भगवान्‌जी चुपके-चुपके, छुपके-छुपके सहायता करना कभी भी नहीं भूलते। इसीलिये तो इस विषय

में हमारे अनुभवी महापुरुष अपना अनमोल अनुभव इस प्रकार प्रकट करते हैं—

'हिम्मत-ए मर्दा मदद-ए खुदा'

(God helps those who help themselves)

अब इसके विपरीत जो अविवेकी, मूर्ख एवं भौतिकवादी है वे बात-ही-बात में अपने निश्चय बार-बार बदलते रहते है और इस प्रकार अपनी सङ्कल्प-शक्ति को बहुत ही निर्बल बना कर धोबी के कुत्त की तरह न घर के रहते हैं और न घाट के। इनके लिये तो मुझे यह लोकोक्ति अनायास ही स्मरण हो आती है—

न खुदा ही मिला न वसाल-ए सनम।
न इधर के रहे न उधर के॥

इस विवेकशक्ति के विकास के स्तर अनुसार मानव-जाति तीन भागों में बाँटी गई है—

(क) मनुष्य रूप में पशु (Animal-man)
(ख) मनुष्य रूप में मनुष्य (Man–Man)
(ग) मनुष्य रूप में देव पुरुष (Super-Man)

जिसमें बुद्धि का विकास बहुत कम है वह नर रूप में पशु है। खाना-पीना और मौज उड़ाना ही ऐसे व्यक्ति का उद्देश्य होता है। इसके अतिरिक्त भी कुछ

वास्तविक सुख होता है यह जाने उसकी बला ! उस का यह जीवन नितान्त पशु-तुल्य होता है।

जिनका विवेक कुछ बढ़ा हुआ है वे भद्र-पुरुष हैं। ऐसे बड़भागी जीव इस छोटे-से जीवन-काल में लोक-परलोक दोनों बना जाते हैं।

देव-पुरुषों का तो कहना ही क्या ! वे धरती के चन्द्रमा होते है। उनमें विवेक-शक्ति का पूर्ण विकास हो चुका होता है। इस विवेक गुण के विकसित हो जाने से वे श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ बन चुके होते हैं। निःसन्देह, वे इस धरती के सूर्य एवं चन्द्रमा तुल्य माने जाते हैं। हैवान और इन्सान में यदि कोई गुण अन्तर डालता है तो वह है—'विवेक'। जिसे भली प्रकार उचित-अनुचित की पहचान हो चुकी हो वही मानव कहलाने का अधिकार है वरन् मनुष्य रूप में पशु है, हैवान है।

इसीलिये कहा जाता है—

'आदमी-आदमी में अन्तर, कोई हीरा कोई कङ्कर।

जब भी मनुष्य का मन तृप्त होगा, वह विवेक के गुण से ही तृप्त होगा, अन्यथा नहीं। बीसवी शताब्दी का विचित्र मानव अपने मन की सन्तुष्टि एवं तृप्ति संसार के प्राणी-पदार्थों से ही करना चाहता है। यह

उसको भूख है, ऐसा कभी हो ही नही सकता। इस विषय मे महापुरुष हमे एक दृष्टान्त दिया करते हैं—

एक राजा था। उसकी राजसभा में बहुत-से प्रखर बुद्धि के विद्वान रहते थे। उनमें से एक विद्वान् ने राजा जी से यह तथ्य कह दिया कि कोई भी प्राणी संसार के प्राणी-पदार्थों से कभी भी तृप्त नही हो सकता। जब भी कोई तृप्त एवं पूर्ण सन्तुष्ट होगा वह विवेक-विराग के गुण से ही होगा। राजा के इस बात का प्रमाण मांगने पर विद्वान् मन्त्री ने बहुत से गडरियो को राजसभा मे बुला भेजा और उनके अधीन एक-एक शाही बकरी दी। वर्षभर के खर्च के लिये उन्हें धन की थैलियाँ भी दी गई। उन पर शर्त यही लगाई गई कि जब एक वर्ष के पश्चात् वे शाही बकरियाँ ले कर लौटें तो उनकी सब बकरियाँ हृष्ट-पुष्ट प्रतीत हो एवं सन्तुष्ट तथा तृप्त दिखाई देती हो। यदि उन बकरियो में से किसीने भी हरी घास दिखाये जाने पर मुँह मार दिया तो उस गडरिये को कड़ा दण्ड मिलेगा। सब गडरिये एक-एक शाही बकरी लेकर चले गये।

प्रिय गीता-पाठक ! उन गडरियो मे से एक ज्ञान-वृद्ध एव वयोवृद्ध गडरिया भी था। उसने बकरियो के लिये प्राप्त शाही थैलियों को ज्यो-का-त्यो अपने घर

में धर लिया। समय व्यतीत होते देर न लगी। निश्चित समय भी निकट आ गया। जहाँ दूसरे सब गडरिये शाही बकरियों की सेवा-शुश्रूषा में दिन-रात खून-पसीना एक कर रहे थे वहाँ वह ज्ञान एवं वयोवृद्ध गडरिया निश्चिततापूर्वक अपनी सब बकरियों के साथ उस शाही बकरियों के साथ उस शाही बकरी को भी घास व पत्ते डालता रहा। आखिर वह निश्चित दिन भी आ पहुँचा। सब-के-सब गडरिये शाही बकरियों सहित राज-दरबार में बुला लिये गये। भले ही उन गडरियों की बकरियाँ हृष्ट-पुष्ट दिखाई देती थीं पर उनके मन में चोर खटकता था। इसके विपरीत जो बकरी ज्ञानवृद्ध गडरिये के लिये निश्चित थी, जैसी वह एक वर्ष के पहले थी लगभग वैसी ही दुबली-पतली दिखाई देती थी। वह समझदार वृद्ध गडरिया निश्चित अवश्य था। परीक्षा प्रारम्भ हुई। राजाजी भरी सभा में बैठे एक के पश्चात् एक बकरी को हरी-हरी घास दिखलाते और बकरियाँ उसे खाने लगती। विद्वान् मन्त्री का सिद्धान्त झूठा प्रतीत होने लगा परन्तु बात रह गई। अबतक उस ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध गडरियेकी बारी आ चुकी थी। पहले की तरह राजा जी ने उस दुबली-पतली शाही बकरी को घास देने से पहले उस

गडरिये से पूछा कि यह बकरी इतनी दुबली-पतली क्यों रह गई ? क्या उसे इसके लिये शाही खर्च प्राप्त नही हुआ ? क्या यह भी दूसरी बकरियों की तरह सन्तुष्ट एवं तृप्त नही हो सकी ? बीच मे ही वह ज्ञान-वृद्ध गडरिया बोल उठा—

'हजूर ! यह आपकी बकरी पूर्ण तृप्त हो चुकी है। इसका शाही खर्च मैं वापिस ले आया हूँ क्योंकि यह मेरी बकरियो की तरह घास- पत्ते खाती रही है। इससे अधिक इस शाही बकरी पर खर्च करना मैंने उचित नही समझा। सरकार ! आप इस बकरी को भली प्रकार परख लें, यह घास के एक तृण को भी मुँह नही लगायेगी।'

ज्यों ही राजा जी ने उस बकरी के सम्मुख हरी घास रखी बकरी ने उसे लेने के लिये मुँह उठाया। देखते-ही-देखते उस गडरिये ने बकरी की पीठ पर अपनी लकुटिया से जोर से प्रहार किया और बकरी सहम कर एक ओर जा खड़ी हुई। उस ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध गडरिये ने राजा जी से बड़े विनम्र एवं प्रेम-पूर्वक कहा कि ऐ हजूर ! कोई भी बकरी इस तरह तृप्त नही हो सकती। समय देखकर वह अवश्य ही घास पर मुँह चलायेगी। केवल डण्डे के भय से ही

वह ठीक रह सकती है, अन्यथा कदापि नहीं। सिद्धान्त सत्य निकला। मन्त्री की बात रह गई। राजा जी ने प्रसन्न होकर उस ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध गडरिये को बहुत-सा धन देकर सत्कार किया।

इसी तरह हमारा मन भी बकरी के समान है। यहाँ-तहाँ-वहाँ यह प्राणी-पदार्थों में मुँह मार कर तृप्त होना चाहता है, परन्तु मन की सन्तुष्टि एवं तृप्ति कभी भी नहीं हो सकती। मन जब भी तृप्त एवं संतुष्ट होगा—विचारों से ही होगा। जबतक विवेक-विराग का डण्डा नही उठाया जायेगा तबतक यह कामनाओं, विषय-वासनाओं, तृष्णाओं में मुँह मारता ही रहेगा।

जो नाना प्रकार के निश्चय करते रहते है और प्राणी-पदार्थों से संतुष्टि एवं तृप्ति चाहते हैं, वे कभी भी सन्तुष्ट एवं आनन्दित नहीं हो सकते। उनके लिये आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है कि वे अपनी बुद्धि का एक ही निश्चय—

'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'

बनायें। इसी एक निश्चय के सुदृढ़ एव परिपक्व हो जाने के पश्चात् कोई भी साधक सन्तुष्ट एव तृप्त हो जाता है। इसीलिये श्रीमुखवचनामृत द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता मे श्रीकृष्णजी ने आश्वासन दिया है—

'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'

अर्थ—निश्चियात्मिका बुद्धि एक ही होती है।

रवाँ है जो होता हो पानी रवाँ।
अगर पुल रवाँ तो ठिकाना कहाँ॥

बात सत्य ही तो है। यदि मनुष्य में बुद्धि ही नही होगी तो उसमें मन प्रधान हो जायेगा। मन के प्रधान हो जाने से इन्द्रियों से मनमाने कर्म होंगे और अन्ततः जीव को धक्के खाने पड़ेंगे। इसके विपरीत जब दृढ मन एवं एक ही निश्चय से कोई कर्म किया जाता है तो इससे कार्य में शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो जाती है।

—※※—

❀ गीता-गौरव ❀

'दयामय की कैसी अलौकिक दया है। मेरे सरीखे अज्ञान जीवों के हितार्थ एक-एक श्लोक वा श्लोक-खण्ड में गीता-तत्व गागर में सागर की तरह भर कर रख छोड़ा है। जरूरत है कि हम उसे अपनावें और अमल में लावें।''

गीता का उद्देश्य कर्त्तव्यविमुख मनुष्य को कर्त्तव्य-पथ पर निर्विघ्न बढ़ा कर साधना के मार्ग पर ठीक-ठाक चला कर उसे जीवन-संग्राम में विजयी बनाना है।

(१६)

★ आत्मनिष्ठ बनो ★

'निर्योगक्षेम आत्मवान्'

गीता—२/४५

अर्थ—'अप्राप्त के प्राप्त की इच्छा नहीं और प्राप्त के वियोग का भय नहीं', ऐसी मानसिक अवस्था बनाते हुए तुम आत्मनिष्ठ बन जाओ।

प्रिय आत्मानन्दी गीता-पाठक !

'योगक्षेम' की इस दूषित वासना ने किस-किस को चक्र में नहीं डाला ! संसार में प्राय: सभी प्राणी तत्जनित बेचैनी एवं दुःखो के विश्लेषण से पीड़ित हो रहे हैं। आइये ! श्रीमुखवचनामृत द्वारा निकले भगवान्‌जी के इस कथन पर तनिक विचार-विमर्श करें—

मेरे गुरुदेव 'स्वामी रामतीर्थ जी महाराज' की सूक्ति है—

बस इक आत्मज्ञान है, अमृत रस की खान।
और बात बक-बक वचन, झख-झख मरना जान॥

कवि ने क्या ही सुन्दर शब्दों में कहा है—

बुलबुल ने आशयाना चमन से उठा लिया।
उसकी बला से बूम बसे या हुमा रहे॥

जब उमड़ा दरिया उलफ़त का,
हर चार तरफ आबादी है ।
हर रात नई इक शादी है,
हर रोज मुबारिक बादी है ॥

हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण जी महाराज त्रिगुणातीत होनें का उपदेश देते हुए उच्चकोटि के जिज्ञासु को कह रहे हैं कि द्वन्द्वों से उपराम हो जाओ तथा मन को पूर्णरूपेण आत्मा में तल्लीन करने के लिये 'योगक्षेम' की चिंता छोड दो । 'निर्योगक्षेम' का अभिप्राय यह है कि जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति की चिंता छोड़ दो और जो वस्तु प्राप्त है उसको सदा अपने पास बनाये रखने की चिंता से भी उपराम हो जाओ ।

—Worry Least—

To attain and to maintain.

क्योंकि संसार हर क्षण परिवर्तनशील है । यहाँ की किसी भी वस्तुको किसी भी समय स्थिरता न थी, न है और न होगी । इस दैवी प्रकृति की हर वस्तु ने यह पाठ खूब पका कर रखा है—

'बढ़ो या मरो'

(Advance or Perish.)

—अर्थात—

चल सो चल ! चल सो चल !!

अग्रसर ! अग्रसर !!

वेद भगवान् फ़रमाते हैं—

चरैवति ! चरैवति !! चरैवति !!!

जब हर प्राणी-पदार्थ चलते हुए जलूस की तरह (Passing Show) ही है तो इनसे स्थायी शान्ति एवं सुख की आस रखना नितान्त भूल एवं मूर्खता है। हमें संसार में रहते हुए अपने-अपने कर्मक्षेत्र में पुरुषार्थ तो करना ही चाहिये। परन्तु पुरुषार्थ से प्राप्त किये गये प्राणी-पदार्थोंसे आसक्ति नही करनी चाहिये, नही तो साधक अपनी साधना के मार्ग में स्वयं ही बाधा सिद्ध होगा। संसार के प्राणी-पदार्थों का उचित एवं शुद्ध प्रयोग करने का अधिकार तो सर्वेश्वर ने दिया है परन्तु ममत्व की छाप लगाने का कदापि-कदापि नहीं। इसलिये इस विषय को सुस्पष्ट करते हुए हमारे दया के सागर भगवान्जी ने ९वे अध्याय के बाईसवे श्लोक में स्वयं ही 'योगक्षेम' के वहन की प्रतिज्ञा की है ताकि उनका भक्त जीवनमें अत्यन्त आवश्यक वस्तुओसे भी निश्चिन्त होकर रहे और उत्तरोत्तर अपनी भक्ति-भावना को बढाता चला जाये। यदि मन

प्राणी-पदार्थों की प्राप्ति एवं रक्षा के कार्यों में ही काफी समय व्यतीत करता रहा तो अपनी साधना के समय पूरा-पूरा ध्यान न कर सकेगा। कहा भी जाता है—

कबीरा मन तो एक है चाहे जिधर लगाये।
चाहे हरि की भक्ति कर चाहे विषय कमाये॥

—तथा—

हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज जी ने सुस्पष्ट किया है—

'चेतसा नान्यगामिनः'

अब यहाँ पर एक बहुत बड़ा प्रश्नबोधक चिह्न (?) खड़ा हो जाता है कि यह बात क्रियात्मक एवं व्यावहारिक रूप में उतारी जाये तो कैसे? दूरदर्शी भगवान्‌जी इसका प्रत्युत्तर देते हुए स्वयं ही अपने आदेश एवं उपदेश मे फरमा रहे है—

आत्मवान्!
आत्मवान्!!
आत्मवान्!!!

१. आत्मोन्मुखी बनो!
२. आत्मानुगामी बनो!!!
३. आत्माभिमुखी बनो!!!

इस विचित्र संसार में दो प्रकार के प्राणी होते हैं—

(क) बहिर्मुखी (Extrovert)

(ख) अन्तर्मुखी (Introvert)

बहिर्मुखी जीव कञ्चन-कामिनी-कीर्ति द्वारा अपने आपको सुख देने के लिये प्रातः से सायं तक गर्दन-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं परन्तु अन्ततः पौ बारह की बजाय तीन काने ही पड़ते हैं। दूसरे वे भाग्यवान् एवं पुण्यवान् जीव हैं जो अपनी तृप्ति एवं सन्तुष्टि के लिये अन्तर्मुखी होकर आत्मोन्मुखी हो चुके है। अभ्यास द्वारा अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके निर्द्वन्द्व, गुणातीत एवं योग-क्षेम की चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं। शेष मन्दभागी जीव अपना सारा जीवन योगक्षेम की चिन्ता में ही समाप्त कर देते हैं।

एक का जीवन योगक्षेम के लिये और एक का जीवन योगक्षेम से अतीत होकर भगवान्जी के लिये।

यदि मैं स्पष्ट कहना चाहूँ तो कह सकता हूँ कि त्रिगुण+द्वन्द्व+योगक्षेम का अर्थ है—'संसार' और निस्त्रैगुण्यः+निर्द्वन्द्व+निर्योगक्षेमः का अर्थ हुआ—'आत्मवान्' किंवा 'प्रभु-भक्त'।

यही से गीतानुयायी पाठक अनुमान लगा सकते हैं

कि यदि एक अमावास्या मे अपनी इष्ट वस्तु को टटोल रहा है तो दूसरा भाग्यवान् पूर्णमासी में मस्त-अलमस्त हुआ-हुआ अपने इष्टदेव के उन्मुख अपनी सुधबुध खो कर नृत्य किये जा रहा है।

(One groping in the dark & another dancing in the moonlight in ecstasy.)

इस उच्चकोटि की अवस्था का वर्णन करते हुए मेरे 'परमपूज्य गुरुदेव स्वामी रामतीर्थ जी महाराज' अपनी मस्ती में भर कर अलौकिक ढंग से फ़रमा रहे हैं—

हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फ़कीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥
है चाह फ़कत इक दिलबर की,
फिर और किसी की चाह नहीं।
इक राह उसी से रखते हैं,
और किसी से राह नहीं॥
यां जितना रंज-तरद्दुद है,
हम एक से भी आगाह नहीं।
कुछ मरने का सन्देह नहीं,
कुछ जीने की परवाह नहीं॥

कुछ ज़ुल्म नहीं कुछ ज़ोर नही,
कुछ दाद नहीं, फरियाद नहीं ।
कुछ कैद नही, कुछ बन्द नहीं,
कुछ जब्र नहीं, आज़ाद नहीं ॥
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं,
वीरान नहीं, आबाद नही ।
हैं जितनी बातें दुनियाँ की,
सब भूल गये, कुछ याद नहीं ॥

—※※—

※ गीता—गौरव ※

"गीता ज्ञान के अमृत-सागर के पास जो कोई जायेगा, वह अपनी तृप्ति और शान्ति के लायक अपने पात्रभर जल अवश्य ले आवेगा।"

—※※—

"फल की ओर यदि दृष्टि डाली जाये जातो गीता-उपदेश का फल हुआ है-भगवान् की आज्ञा पालन। भगवान् की आज्ञा यही है कि 'युद्ध कर'। तदनुसार अर्जुन ने युद्ध किया ही। अन्त मे कहा भी है कि—

'करिष्ये वचनम् तव'

—※※—

'वास्तव में गीता के समान संसार में यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, संयम और उपवास आदि कुछ भी नही।"

—※※—

(१७)

* निष्काम कर्म *

'मा फलेषु कदाचन'

गीता—२/४७

जिन्दगी दुनियां मे हो तो जिन्दगी हो काम की।
जिन्दगी किस काम की जो जिन्दगी हो नाम की॥
काम जो करना है हम को फ़िक्र हो उस काम की।
ख्वाहिशें बेकार हैं तकलीफ़ की आराम की॥

—**—

इस विचित्रालय ससार मे हमारे इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजजी ने दो प्रकार के प्राणियो की रचना की है।

(क) भोगप्रधान प्राणी यथा—दरिन्दे, परिन्दे, चरिन्दे इत्यादि।

(ख) कर्मप्रधान प्राणी यथा—मानव, दानव, देव इत्यादि।

अपने-अपने संस्कारो के अनुसार सभी छोटे-बड़े प्राणी कर्म करने के लिये बाध्य हैं। अपने पूर्व निश्चित संस्कारो को समाप्त करने के लिये सब-के-सब प्राणी

अहंभाव एव फलेच्छा से रहित होकर जीव बन्धन में नहीं फँसता। सकाम भाव से किये गये कर्म ही संस्कार डालते हैं और जीव को बन्धन में डाले रहते हैं। जब तक कोई भी मनुष्य कर्तव्य कर्मो को भगवत्-दृष्टिकोण से नही करता तबतक कर्मों की प्रतिक्रियारूप दु.खाग्नि मे दग्ध हुए बिना नही रहेगा। इच्छा की पूर्ति का उद्देश्य सम्मुख रख कर कर्म करनेसे मानसिक विक्षेपता उत्पन्न हो जातो है, जिससे इष्टक्षेत्र मे हमारी कार्य-कौशलता क्षीण हो जातो है। यदि इस मानसिक शक्ति को एकत्रित कर के पूर्ण रुचिके साथ किसी भले काम में लगा दी जाये तो इसमें से महान् कार्य का जन्म होगा, जिससे अनेक जीव लाभान्वित होंगे। यह कर्म करने की एक रहस्यमयी कला है।

मनुष्य इस धरती पर बाद में आता है पहले उस की प्रारब्ध निश्चित हो जाती है। उसके जीवनकाल में प्राणी-पदार्थों के साथ सयोग-वियोग पहले से ही निर्धा-रित हैं। जिन नेक जीवों को अपनी प्रारब्ध पर अटूट विश्वास है वे कर्म करते समय फलेच्छा से कभी भी अपने उत्साह को कम नही होने देते। जिस किसी भी क्षेत्र मे कर्म करेंगे उसका फल तो उन्हे आवश्यक रूप से प्राप्त होगा ही। फिर फलकी चाहना रख कर अपने

जीवन को असमञ्जस में डाल देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ! आप किसी सरकारी पद पर अधिकारी हैं, कार्यालय में अध्यक्ष हैं, विद्यालय में अध्यापन का कार्य करते हैं, कृषक हैं; व्यापार-वृत्ति में संलग्न है अथवा परिश्रम द्वारा अपनी जीविका चला रहे है, आप यह भाव मत रक्खें कि वेतन के लिये काम कर रहे हैं, वेतन तो आपको मिलेगा ही, परन्तु यह भाव रक्खे कि मै अपना ईश्वर-प्रदत्त कार्य निमित्त बन कर पूरा कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त कर्म करनेका कोई दूसरा हेतु नही होना चाहिये। इस प्रकार के उच्च भावों द्वारा जब आप कर्मक्षेत्र में अपनी भूमिका निभायेगे तो निःसन्देह, आपका अन्तःकरण संस्कारों का करीषचय (dunghill) बनने के स्थान पर उत्तरोत्तर निर्मल एवं विमल होता चला जायेगा। ऐसे शुद्ध अन्तःकरण में ही भगवान्जी का निवास हुआ करता है। कहा भी जाता है—

'Duty first and duty last,
Duty must be done at any cost.'

आङ्ग्ल भाषा की इस सूक्ति के अनुसार अपने कर्तव्य कर्म को कर्तव्य समझ कर ही निभाते जाना चाहिये। इससे जीव कर्मों में न बँध कर सदा स्व-तन्त्रतापूर्वक जीवन-यापन करता रहेगा। भूतकाल एवं

भविष्य की चिंता को छोड़ कर हमें अपने वर्तमान समय में निर्धारित कर्मों को बड़ी कौशलता से करना है।

-क्योंकि-

जो कर्म हमने भूतकाल में किये उसका परिणाम एवं परिमाण हमारा वर्तमानकाल है और जो कर्म हम अब कर रहे है वही भविष्य की नींव होगी। अतः अपने जीवन को एक सुचारु एवं सर्वोपरि रूप देने के लिये हमें अपने कर्मों की वर्तमान स्थिति को श्रेयस्कर बनाना होगा। कर्म करते समय अपने-आपको उसमें तल्लीन कर दें ताकि जिसमें हमारे कर्तापन की गन्ध एवं आसक्ति दिखाई न दे। कहा भी जाता है कि— The work itself is his reward.' कर्म करते समय जो आनन्द लिया जाता है वही उसका फल है। इसके विपरीत फलके कारण कर्म करने वालो के लिये श्रीगीताजी में भगवान्‌जी स्वयं फरमाते हैं :—

कृपणाः फलहेतवः

गीता—२/४६

-अर्थात-

'रहें फल के तालिब जलील-ओ हक़ीर।'

जैसाकि आप जानते ही हैं कि वर्तमान सरकारों

के प्रधान-मुख्यमन्त्रियों के हाथ में विभिन्न प्रकार के संविभाग (Portfolio) होते हैं जिससे वे अपने शासन का कार्य सुचारु रूप से करते रहते हैं। ऐसे ही हमारे भगवान्‌जी के पास त्रिलोकी का शासन है। अतः उस दयालु शासक ने भी अपने हाथ में तीन ऐसे विभाग रखे हैं जिनको उन्होंने आज तक किसी भी देवी-देवता ऋषि-मुनि, दानव-मानव को नहीं सौंपा, और वे है—

(१) जन्म-मृत्यु का विभाग,

(२) कर्मों का लेखा-जोखा

(३) आनन्द शान्ति का साम्राज्य

जब ऐसा ही है तो क्यों हम कर्म फल के लिये लालायित हो कर अपने-आपको निराशा एवं दुःखो मे डाले। फल-दृष्टि से किये गये कर्मो से हमें कभी भी सफलता नही मिल सकती क्योंकि इच्छाये अपने-आपमे बढ़ जावे का स्वभाव रखती हैं। स्वामी श्रीरामतीर्थजी महाराज, स्वामी विवेकानन्दजी प्रभृति अनेक उच्चकोटि के निष्काम कर्मयोगी थे जिन्होंने अनेक विपदाओं को सहन करते हुए भी अपने कर्तव्य कर्म—जन-जागरण के महान् कार्य से कभी हिम्मत नहीं हारी। देखिये उनमें कितना उत्साह एवं उदारपन था जबकि वे पुकारा करते थे :—

'The whole world is our home,
and to do good is our Religion.'

यदि हम भगवान्‌जी द्वारा बताये गये ढंगके अनुसार कर्म करेंगे तो हमारी सब-की-सब क्रियायें भगवान्‌जी की पूजा बन जायेंगी। इस अवस्था में आ कर कर्म पूजा बन जाता है। (Work is worship) ऐसे नेक जीवोंपर भगवान्‌जी अपनी विशेष-विशेष कृपा कर देते हैं और जीव निजी कर्मों को बड़े उत्साह एवं प्रेमपूर्वक करता हुआ लोक-परलोक सुधार लेता है। इस श्लोकमें भगवान्‌जी हमें यह आश्वासन देते हैं कि यदि वर्तमान स्थिति को ठीक कर लिया गया तो भविष्य अपनी चिंता स्वयं कर लेगा। यदि पुरुषार्थ करने के पश्चात् आप फल की इच्छा का त्याग कर देंगे तो वह इच्छा आपकी आवश्यकरूप से पूर्ण हो जायेगी। यह अनुभूत तथ्य है, आप भी आजमाइश कर लें।

इस विधि से किये गये निष्काम कर्मोंके फलस्वरूप आपको आवश्यक रूप से एकाग्रता का लाभ होगा और इसी एकाग्रता से आप 'कर्मयोग' द्वारा शनैः-शनैः भगवत्-प्राप्ति के अधिकारी बनते चले जायेंगे।

किसी कवि ने क्या ही सुन्दर शब्दों में चेतावनी दी है—

जिन्दगी इक तीर है, जाने न पाये रायगाँ।
देख लो पहले निशाना बाद में खींचो कमाँ॥

—※※—

वो चाल चल कि उमर खुशी से कटे तेरी।
वो काम कर कि याद तुझे सब किया करें॥

—※※—

★ गीता-गौरव ★

"समस्त साहित्य का मन्थन करके व्यासदेवजी की बुद्धि ने यह गीतारूपी अवर्णनीय अमृत निकला है।"

—※※—

"गीता मनुष्य को नीचे-से-नीचे स्थान से उठा कर ऊँचे-से-ऊँचे परमपदपर आरूढ कराने वाला एक अद्भुत प्रभावशाली ग्रन्थ है। मनुष्य जब कभी किसी चिंता, संशय और शोक में मग्न हो जाता है और उसे कोई रास्ता दिखाई नही पडता, उस समय गीता के श्लोको के अर्थ और भाव पर लक्ष्य करने से वह निश्चिन्त, निःसंशय और शोकरहित होकर प्रसन्नता और शान्ति को प्राप्त हो जाता है।"

—★★—

"गीता का उपदेश बहुत ही उच्चकोटि का है। गीता मे सब से ऊँचा ज्ञान, सब मे ऊँची भक्ति और सब से ऊँचा निष्काम भाव भरा हुआ है। गीता के उपदेश को सुन कर मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक ही यह प्रभाव पडता है कि यह मनुष्य-रचित नही है।"

—※※—

(१८)

※ योग की परिभाषा ※

(DEFINATION OF YOGA)

समत्वं योगः उच्यते ।

गीता—२/४८

—अर्थात्—

न जीते की शादी न हारे का सोग,
कि दिल के तवाजन का है नाम योग ।

—※※—

Evenness of mind is called Yoga.

—※※—

इस विचित्र ससार में मनुष्यवर्ग अहर्निश स्थायी शान्ति की खोज में भगवान् जानें कब से गर्दनतोड परिश्रम कर रहा है !

—क्योंकि—

यह आनन्दस्वरूप भगवान् का अभिन्न अंश है परन्तु अज्ञानता के कारण बेचारा जानता ही नही कि यथार्थ रूपमें शान्ति का स्रोत जगत् नही अपितु जगत्-पति है, सर्व (Paraphernalia) नहीं, सर्वेश्वर हैं ।

हमारे भारतीय महर्षियो ने सुख की परिभाषा

अपने अनुभव के आधार पर इस प्रकार की है—

मन का सदा सन्तुलित (Balanced) बने रहना ही शान्ति है और किसी भी कारण विशेष से असन्तुलित हो जाना दुःख है।

जब महर्षियों ने शान्ति के इस रहस्य को खोज निकाला तो अब वे बड़ी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने लगे कि मन सांसारिक रूप में सदा-सर्वदा के लिये सन्तुलित रह ही नहीं सकता।

—क्योंकि—

संसार सदा परिवर्तनीय, विकार्य एव विध्वंसनीय है। अतः उन्हें यह स्पष्ट ज्ञात हो गया कि केवलमात्र एक परमात्मा की ही ऐसी सत्ता है जो अपरिवर्तनीय, अविकार्य एवं शाश्वत है। अपनी बुद्धि की सूक्ष्म वृत्ति को उसमें तल्लीन करने के लिये उन्होंने इन तीन योगों की खोज कर ली।

(क) कर्मयोग

(ख) भक्तियोग

(ग) ज्ञानयोग

योग की चरम सीमा पर पहुँच जाने के पश्चात् मन सदा-सर्वदा के लिये गुणातीत एवं द्वन्द्वातीत हो

जाता है अथवा इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वह पूर्णरूपेण 'Worldly proof' बन जाता है। इस सराहनीय एव अद्वितीय दशा मे संसार की कोई भी अप्रिय एव विकट अवस्था उसके योगयुक्त मन को टस-से-मस नही कर सकती।

-क्योंकि-

उसको भगवान्‌जी की अपार कृपासे इतना आनन्द मिल चुका होता है जिससे कि वह रञ्चकमात्र भी विचलित नही होता। जैसाकि स्वयं ही अपने श्रीमुख से हमारे इष्टदेव श्रीगीताजी में कह रहे हैं—

'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।'

-अर्थात्-

जहाँ उसमें जम कर वो आ जाये सुख,
कि जुम्बश न दे उसको दुनियाँ का दुःख।

इसी अवस्था का वर्णन करते हुए मेरे गुरुदेव अनन्त विभूषित 'स्वामी श्रीरामतीर्थजी महाराज' फरमाते हैं—

हर आन हँसी हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फ़कीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥

परमात्मा स्वयं शान्ति एवं आनन्द के स्रोत है और मन उनका अभिन्न अंश होने के कारण सदा शान्त स्वभाव वाला है। यदि हम अपनी ओर से मन में कोई राग-द्वेष से पूर्ण असत् विचार प्रवेश न होने दे तो वह निज स्वभावानुसार शान्त बना रहेगा। जब हम किसी भी नकारात्मक वृत्तिमे युक्त विचार को मन में आने देते हैं तो जलकी तरगो के समान वह एक ही विचार अनेक विचारो में परिणत हो जाता है तथा हमारे मन को बनी-बनाई शान्त अवस्था को विक्षेपता में डाल देता है। जहाँ योग मन को हिलने नही देता वहाँ अयुक्त मन सदा अशान्त रहता है।

☞ मन विचारों का संग्राही (Collector) होना चाहिये था परन्तु वह विचारों का प्रतिक्षेपक (Reflector) बन कर भगवान् से सदा दूर बना रहता है।

प्रिय गीतानुयायी पाठक ! साधनाभ्यास द्वारा जब मन समता में स्थिर हो जाता है तो उसमें नित्य नये दैव प्रेरित भाव उठते रहते हैं, जिससे न केवल साधक का अपना अपितु अन्य जीवों का भी भला होता है। जब तक मन ऐहिक प्राणी-पदार्थों से विमुख हो कर एकाग्रता लाभ नही करता तब तक उसमें प्रेरणादायक

शुभ कर्म करने के भाव उठ ही नही सकते। कवि हो या कलाकार, वैज्ञानिक हो या प्रभु-परस्तार बिना मन की समावस्था के सब कुछ है बेकार। मन की सम अवस्था को बनाये रखना यही अभ्यास है, यही जप है, यही तप है। इसी अवस्था के परिपक्व हो जाने पर एक चमत्कारिक शक्ति का उदय होता है जिससे जीव सदा-सदा के लिये योगयुक्त हो कर आवागमन के इस विकट-चक्र से छूट जाता है।

सर्वेश्वर की इच्छा के अतिरिक्त मनमें और किसी इच्छा, भाव, कल्पना, विचार इत्यादि को स्थान देना मानो अपनी समावस्था से दूर होना है। प्राणी-पदार्थों की चाहना से हमारे मन की समावस्था विक्षेपता में परिणत हो जाती है। पूर्ण पुरुषार्थ के पश्चात् जब अमुक-अमुक प्राणी-पदार्थ की प्राप्ति होती है तो इससे बिखरा हुआ मन एकाग्रता लाभ करता हुआ पुनः अपनी उसी अवस्था में आ कर आनन्द का अनुभव करता है। मन तो हमारा पहले से ही शान्त भाव में था परन्तु भूल से बुद्धू मानव यह सोच लेता है कि प्राणी-पदार्थों की प्राप्ति से आनन्द मिला है। यथार्थता यह है कि प्राणी-पदार्थों की इच्छा कर के जो मन विक्षिप्त हो गया था इनकी प्राप्ति से खोई हुई एकाग्रता

को पुनः प्राप्त हो कर शान्त हुआ है। अब आप ही बतलायें कि शान्ति अनित्य, असत्य एवं जड़ प्राणी-पदार्थों से आई या कि एकाग्रता से ? निःसन्देह, मनकी एकाग्र अवस्था में ही सुख-शान्ति का स्रोत है, प्राणी-पदार्थोंमें कदापि-कदापि नहीं। अतः हमें हर सम्भव प्रयत्न द्वारा अपने मन की शान्तावस्था को बनाये रखने के लिये योगाभ्यास करना चाहिये। राग-द्वेषसे उत्पन्न कामना-रूपी सूखी मिर्चको मनकी समावस्था रूपी कस्तूरीसे दूर ही रक्खें ताकि हमारे अन्तःकरणरूपी प्रासाद में उस कस्तूरी की सुगन्ध नित्य-प्रति बनी रहे। ऐसी उत्तम गन्ध से मुग्ध हुआ-हुआ प्रेमी अपने प्राणप्रियतम भगवान् में मस्त-अलमस्त हो कर सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है।

योगयुक्त अहोभाग्यशाली पुरुष इस परिवर्तनीय विचित्रालय संसार में रहता हुआ तथा नाना प्रकारकी विकट परिस्थितियों, दशाओं, घटनाओं तथा संकटों का मुकाबला अपने युक्त एवं स्थित मन से सहर्ष करता चला जाता है। उसके योगयुक्त मनपर इन विकट एवं विचित्र परिस्थितियों का रञ्चकमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता। सचमुच, अब वह सरोवर में कमल के समान संसार के द्वन्द्वोंमें बिल्कुल कूटस्थ एवं तटस्थ हुआ-हुआ

जीवन के दिनों को गुजारता चला जाता है। अतः 'योग' की कृपा से योगी इस समता भाव को प्राप्त करता हुआ सदा योगयुक्त रहता है। भगवान्‌जी ऐसे पुण्यवान् एव भाग्यवान् के अलौकिक जीवन को देखते हुए अपने श्रीमुख से फरमा रहे हैं—

समत्वं योगः उच्यते ! समत्वं योगः उच्यते !!

-अर्थात्-

न जीते की शादी न हारे का सोग,
कि दिल के तवाजन का है नाम योग।

जय भगवत् गीते !

—**—

गीता-गौरव

"रत्नाकर सागर मे डुबकी लगाने वाला चाहे रत्नो से वञ्चित रह जाये, पर गीता दिव्य रसामृत समुद्रमें डुबकी लगाने वाला कभी खाली हाथ नही निकलता।"

—**—

गीता मनुष्य के सम्मुख वह उच्चातिउच्च श्रेष्ठतम आदर्श रखती है जिसके प्राप्त करने से मनुष्य समस्त सीमाओ से मुक्त हो कर अपने स्वाभाविक अमरत्व की शान्ति और आनन्द मे मग्न हो जाता है।

—**—

(१६)

फलेच्छुक-निकृष्ट

'कृपणा फलहेतवः'

गीता—२/४६

-अर्थात्-

'रहें फल के तालिब ज़लील-ओ हकीर'

'गीता'—यदि इस पावन शब्द का निरन्तर बार-बार उच्चारण किया जाये तो स्वतः ही वाणी से 'त्यागी' शब्दका स्वर सुनाई पड़ता है। प्रिय गीताध्यायी! सचमुच, हमारी अनुपमोपकारकारिणी भगवत्-गीता अथ से इति तक (From beginning to end) यत्र-तत्र त्याग का उपदेश ही देती है। यथा—आत्मा-अनात्मा का ज्ञान करवाते हुए अनात्मा का त्याग, निश्चयरहित किंवा अस्थिर बुद्धि का त्याग, अश्लील निर्णयों का त्याग, दूषित विचारों का त्याग, कुत्सित कर्मों का त्याग, परधर्म का त्याग, स्वयं द्वारा अध्यारोपित (Super-imposed) अशुभ कामनाओं का त्याग, नाना प्रकार की नकारात्मक वृत्तियों का त्याग, यज्ञ निमित्त कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मों का त्याग, कर्म-अकर्म-विकर्म के रहस्य को जान कर कर्म और

विकर्म का त्याग, विषय-सुख का त्याग, इत्यादि-इत्यादि। परन्तु इन सबसे कही अधिक श्रीगीताजी मैं कर्म-फल त्याग का वर्णन मिलता है और यही श्रीगीताजी की मुख्य ध्वनि भी है। कारण यह कि श्रीगीताजी का एकमात्र उद्देश्य जीव को सर्वप्रकार के दुखो से छुटकारा दिलाकर उसे स्थायी शान्ति का मार्ग दर्शाना है और यह शान्ति उपरोक्त कुभावो का त्याग करने से ही सम्भव हो सकती है अन्यथा कदापि नही। स्वय जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण सर्वदु.खनिवारिणी श्रीगीताजीमें इस तथ्यकी पुष्टि में फरमाते है—

'त्यागात् शान्ति अनन्तरम्' गीता—१२/१२

—अर्थात्—

'तर्क-ए समर से ही फ़ौरन सकूँ।'

परन्तु अज्ञानतावश रजोगुण की वृद्धि के कारण इस रहस्य को न समझकर मानव अश्लील, दूषित एव निकृष्ट कामनायें कर बैठता है जिसके परिणामस्वरूप वह कर्म और उनके फलोके साथ बँध जाता है। अपूर्व गीता-दर्शनमे इसका सुस्पष्ट वर्णन इस प्रकार मिलता है—

रजो रागात्मकम् विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तद् निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥

गीता—१४/७

-अर्थात्-

कामना को तू रजोगुण से होना जान ले।
कर्म और इनके फलों से जीव को हैं बांधते ॥

आज यदि अपने चतुर्दिक् दृष्टिपात किया जाये तो स्पष्ट विदित होगा कि प्राय: ९९ प्रतिशत लोग कर्म तो बाद में प्रारम्भ करते हैं परन्तु शेख चिल्ली की तरह हवाई किले पहले ही बनाने लग जाते हैं। अभिप्राय यह कि हर क्षण उनकी यही भावना बनी रहती है, 'मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ, इसका मुझे यह फल मिलेगा।' कहाँ तो भाग्यवान् एवं पुण्यवान् निष्कामी पुरुष जो भगवान्‌जी के निम्नाङ्कित अति कल्याणकारी भावों पर पुष्प चढ़ा रहा होता है—

'कर्मणि एव अधिकार: ते मा फलेषु कदाचन
गीता—२/४७

-अर्थात्-

तुझे काम करना है ओ मरद-ए कार,
नहीं उसके फल पर तुझे इख्तियार।

और दूसरी ओर कहाँ मन्दभागी एवं मूढ़ सकामी पुरुष जो सदा-सर्वदा कामनाओं के ही चक्कर में फँसा हुआ भगवान्‌जी ने इन भावों का चरितार्थ कर रहा होता है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
गीता–१६/१३

–अर्थात्–

यो कहता है आज एक पाई मुराद,
तो कल दूसरी हाथ आई मुराद ।

अजी, तुलना भी की जाये तो कहाँ तक ! कहाँ तो निष्काम भाव से युक्त अहोभाग्यशाली समभाव में स्थित, शान्त, उद्वेगरहित, सङ्कल्प-विकल्प से शून्य एवं अपने-आप में तुष्ट रहता है । नहीं-नहीं कवि तो ऐसे कामना-रहित पुरुषके लिये यहाँ तक पुकार उठता है–

चाह गई चिन्ता मिटी मनुवा बेपरवाह ।
जाको कछु न चाहिये सो ही शहन्शाह ॥

और तनिक बेचारे सकामी को ओर भी दृष्टि-पात कीजिये । यह दुर्भागी हर समय यही चिन्ता रख कर मन को विक्षेपता मे डाले रहता है—'मेरे पास इतनी सम्पत्ति तो है, इतनी और हो जानी चाहिये', अमुक वस्तु तो मैंने प्राप्त कर ली है यदि 'अमुक-अमुक वस्तु मेरे पास और हो जाये तब तो मेरी खुशी के कहने ही क्या' इत्यादि-इत्यादि ।

वाह रे कामना-ग्रस्त मानव ! कभी यह तो सोचा होता कि कामना की जाये या न की जाये मिलना

तो वही है जो पूर्व-निश्चित (Pre determined) है। कभी तो एकान्त में बैठकर 'सन्त शिरोमणि गुसाईं तुलसीदासजी महाराज' के इस अटल एवं अकाट्य सिद्धान्त पर विचार किया होता—

'पहले बनी प्रारब्ध पाछे बना शरीर'

परन्तु उस अभागे को इतनी समझ ही कहाँ कि कामना रखकर कर्म करना तो मानो अपने-आपको स्वयं ही बन्धन में जकड़ना है। सारी आयु कोल्हू के बैल की भाँति 'अविद्या से कामनाये, कामनाओं से कर्म और कर्मों से फिर कामनाये'—इसी चक्कर में ही उलझा रहता है और दुःख, कष्ट एवं चिन्ताओं के झूलेमें हिचकोले खाता रहता है जिसके लिये स्वयं भगवान्‌जी श्रीगीताजीमें अपने श्रीमुखसे वक्ष्यमाण हुए हैं—

'चिन्तां अपरिमेयाम्'

गीता—१६/११

—अर्थात्—

'सम, बेहिसाब उनको दिन हो या रात'

कल्पना कीजिये कि किसी व्यक्ति ने कामना की कि अमुक वस्तु मेरे पास अवश्य होनी चाहिये। अब जब तक उसकी वह कामना पूरी नही हो जाती तब तक उसका मन असन्तुलित बना रहेगा और वह

नाना प्रकार के अनुचित एवं अवैध (Improper and illegal) साधनों के द्वारा घोर परिश्रम करता हुआ इष्ट वस्तु को प्राप्त करना चाहेगा।

स्मरण रहे—

उस द्वारा कामना की गई वस्तु तो उसे तब ही प्राप्त होगी यदि उसकी प्रारब्ध में होगी परन्तु कामना रखकर जो गर्दन-तोड़ परिश्रम किया गया वह व्यर्थ सिद्ध हुआ और परिणामस्वरूप शान्ति चाहता हुआ भी जीव अशान्त हो गया। यही कारण है कि भगवान् जी ऐसे पुरुषों को फटकारते हुए कह रहे हैं—

'कृपणाः फलहेतवः'

अर्थात्—फल के कारण कर्म करने वाले दया के पात्र है।'

निःसन्देह, जीवन है तो निष्कामी का! 'सकामी व्यक्ति का भी क्या कोई जीवन है—कामनायें लेकर उत्पन्न हुआ, भाड़े के टट्टू की भाँति सारी आयु कामनायें पूरी करता रहा और अन्त में कामनाओं को साथ लेकर ही शरीर छोड़ दिया। इसीलिये 'मेरे गुरुदेव ज्ञान सम्राट् स्वामी रामतीर्थजी महाराज' डंके की चोट से पुकार कर कहा करते थे—

खुदा को पूजनें वाले मुजस्सम प्यार होते हैं।
जो मुनकर हैं जमानेमें जलील-ओ ख्वार होते हैं॥ *

(२०)

* कर्मों में दक्षता *

'योगः कर्मसु कौशलम्'

गीता—२/५०

-अर्थात्-

'अमल में हुनर हो तो कहलाये योग'

(Skill in Action is yoga)

—**—

नहीं वो जिन्दगी जिसको जहाँ नफ़रत से ठुकराये,
नहीं वो जिन्दगी जो मौत के कदमों में गिर जाये।
वही है जिन्दगी जो नाम पाती है भलाई में,
खुदी को छोड़ कर जो पहुँच जाती है खुदाई में॥

निःसन्देह, मानव जीवन का एकमात्र उद्देश्य अपने इष्टदेव भगवान्‌जी की सत्ता में सदा-सर्वदा के लिये तल्लीन हो जाना ही है। इसी देव-दुर्लभ, दिव्य एवं अनुपमावस्था की प्राप्ति के लिये 'योग' एक अनिवार्य तथा अपरिहार्य (Indispensible & unavoidable) साधन है। योगाभ्यासके द्वारा ही जीव अपनी यथार्थता की पहचान करता हुआ 'कैवल्य-मोक्ष' की प्राप्ति में सफल हो सकता है, अन्यथा कदापि-कदापि नहीं।

योग किसे कहते हैं—

साधारणतयः 'योग' शब्द से अभिप्राय घर-बार छोड़ कर किसी पर्वत-शिखर पर अथवा कन्दराओं में निवास करना, कन्द-मूल और फल-पत्तों पर निर्वाह करना, किसी घने वनमें जा कर कठोर तपस्या करना, सांसारिक सम्बन्धो को तोड़ देना, पञ्चाग्नि में शरीर को तपाना, धूनी रमाना, कड़ाके की सर्दी में शीतल जलमें खड़े हो जाना, एक टाँग पर खड़े रहना, भूखे रहना प्रभृति हठ-क्रियाओं से ही लिया जाता है। परन्तु क्या यही 'योग' है? कदापि-कदापि नही। गीतागायक भगवान् श्रीकृष्ण उक्त दुराग्रहोंको ही योग नही मानते। 'सर्वयोगमयी श्रीगीताजी' में 'योग' की सरल, सुबोध एवं सुस्पष्ट परिभाषा करते हुए उन्होंने दूसरे अध्याय के ४८वें श्लोक में अमृतमयी उपदेश दिया—

'समत्वं योगः उच्यते'

—अर्थात्—

न जीते की शादी न हारे का सोग,
कि दिल के तवाज़न का है नाम योग।

आगे चल कर ५०वें श्लोक में इसी तथ्य का और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए श्रीभगवान्‌जी वक्ष्यमाण हुए—

'योगः कर्मसु कौशलम्'

गीता—२/५०

अर्थ :—'कर्मों में कुशलता ही योग है।'

उपरि रूपसे देखने में भगवान्‌जी के इन दो सुभाषितों में भिन्नता दिखाई पड़ती है। परन्तु पूर्वापर का ध्यान रखते हुए यदि गम्भीरतापूर्वक एवं पैनी दृष्टि से मनन किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि यह भिन्नता प्रतीतिमात्र की ही है, यथार्थ नहीं। योग की प्रथम परिभाषा में भगवान्‌जी ने फ़रमाया कि सफलता-असफलता में समभाव रखते हुए कर्म करते रहना चाहिये क्योंकि समता ही योग कहलाती है। अपने इसी सिद्धान्त को अल्पज्ञ मानव के लिये सुग्राह्य एवं सुबोध बनाने के लिये ही भगवान्‌जी ने प्रस्तुत श्लोक मे कहा कि इस प्रकार उक्त समत्व बुद्धिसे युक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को छोड़ देता है, इसलिये तू समत्वरूप योग मे लग जा, क्योकि समत्वरूप योग ही कर्मों मे कौशलता है अर्थात् यही कर्मबन्धनों से छूट जाने का उपाय है। सचमुच, कर्म करना भी एक कला है अपितु यदि इसे अन्य सर्व प्रकारकी कलाओ से शिरोमणि, अग्रगण्य एवं सर्वश्रेष्ठ कला भी कह दिया जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी और वह कला यह है कि अपने दैनिक कर्तव्य-

कर्मों (Obligatory-Actions) को तो पूरा किया जाये परन्तु इस कौशलता से कि कर्म करते हुए उनके संस्कार अन्तःकरण पर न पड़ें। अभिप्राय यह कि—

'सांप भी मरे और लाठी भी बचे।'

परन्तु यह सम्भव हो तो कैसे ? क्योंकि साधारणत: कर्म तो स्वाभाविक रूप से जीवको बांधने वाले होते हैं और यह भी स्पष्ट है कि कर्म किये बिना जीव क्षणमात्र भी नहीं रह सकता। बन्धुवर ! यह तभी सम्भव हो पायेगा जब अपने कर्तव्य-कर्म फलेच्छा एवं आसक्ति रख कर अथवा कामना की चोट खा कर न किये जायें। क्योंकि जब तक मन कामनायें तथा आसक्ति करता रहेगा तब तक उस पर संस्कारों का बोझ बढता ही रहेगा। यथा—गीला हाथ जहाँ भी लगाया जायेगा वह अपने साथ कुछ-न-कुछ अवश्य चिपका कर लायेगा। इसी प्रकार कामनाओं से गीला मन कोई भी कर्म करेगा उसके संस्कार अपने ऊपर अङ्कित कर लेगा। विपरीत इसके जब मन को कामनाओ से सर्वथा शून्य कर के प्रभु-समर्पित बुद्धि द्वारा कर्म किया जायेगा, उसमे अन्त करण पर किसी प्रकार के संस्कार नही पडेंगे। इतना ही नही, इस उत्तम विधि से किये गये कर्मों द्वारा अन्तःकरण पर पड़े पुराने संस-

कार भी शीघ्रातिशीघ्र घुलते जायेंगे। जिस प्रकार गर्म कपड़ों को अटैची अथवा ट्रंक में रखते समय फिनायल की कुछ गोलियाँ साथ रख दी जाती है जिसकी विषैली दुर्गन्ध के कारण एक तो नये कीड़े ट्रंक में प्रवेश नही कर पाते और दूसरे जो कीडे पहले से ही ट्रंक में होते हैं वे भी मर जाते है। इसी प्रकार प्रभु-प्रेम में भर कर किये गये कर्मों से पुराने संस्कार जो जीव के बन्धन का कारण बने थे वे मिट जाते हैं और नये संस्कार पड़ते नही जिसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण उत्तरोत्तर निर्मल होता चला जाता है। ऐसे पुण्यवान् एवं भाग्यवान् जीव अब कर्म तो करते हैं परन्तु केवल कर्म की दृष्टि से, फल की ओर उनका रञ्चकमात्र भी ध्यान नहीं जाता। किसी भारतीय कवि ने उनकी इसी अनुपमावस्था का वर्णन क्या ही निराले ढंग से किया है—

आस खेती के पनपने की उन्हें कुछ हो न हो।
पर सदा पानी दिये जाते किसानों की तरह॥

ऐसे अहोभाग्यशाली निष्काम कर्मयोगियों के लिये ही जगत्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण ने भवद्वेषिणी भगवत्-गीता में यह मधुर एवं आकर्षक गीत गाया है—

निराशीः यत्तचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम्॥
गीता—४/२१

—अर्थात्—

उम्मीद-औ हवस से न हो कुछ लगन,
जो काबू में हो मन तो कब्जे में तन।
जो तन काम में मन रहे ध्यान में,
तो पल भी न गुजरेगो अस्थान में॥

प्रिय गीता पाठक! यही कर्मोंमें कौशलता है जिसे हमारे सरताज एव मन के राजा इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण सर्वकल्याणकारिणी श्रीगीताजी में 'योग' का नाम दे रहे हैं और जिसको व्यावहारिक रूप दे देने से जीव कर्म बन्धनो से छूटता हुआ अपने अन्तिम लक्ष्य 'परम-पद' की प्राप्ति करने मे सराहनीय तथा अनुकरणीय सफलता प्राप्त कर लेता है।

जय भगवत् गीते!

(२१)

★ तृप्ति—अपनी ही आत्मा में ★

—※※—

आत्मनि एव आत्मना तुष्टः

गीता—२/५५

-अर्थात्-

'रहे जिसका दिल रूह से मुतमैयन'

प्रिय गीता पाठक !

जब तलक अपनी समझ इन्सान को आती नहीं ।
तब तलक दिल की परेशानी कभी जाती नहीं ॥

भगवान् जाने यह विचित्र मानव कब से शान्ति की खोजमें दिन-रात एक किये हुए है । यहाँ-तहाँ-वहाँ शान्ति को गवेषणा करता हुआ गर्दन-तोड़ परिश्रम किये जा रहा है यह बीसवी शताब्दी का अद्भुत मनुष्य ! कभी तो अपनी खुशी को माँ के आँचल में ढूंढता है तो कभी पिता को गोद मे; कभी बहिन-भाइयों के साथ रीझने-खीजने में; कभी विश्वविद्यालय (University) की नाना प्रकार की डिग्रियो को प्राप्त करने में; कभी रुपये की झंकार मे; कभी बड़े-बड़े पद एवं अधिकार को प्राप्त करने में; कभी मान-प्रतिष्ठा का

भूखा बनकर सामाजिक प्राणियो से अनुनय विनय करने में; कभी कान-फटी एवं नाक-फटी स्त्री को अपनी प्रियतमा बनाने में, कभी पिता कहलाने के चाव को पूरा करने में, कभी बाल-बच्चो का मुंह देखने मे और कभी बहुत बडे मन्त्री बन कर शासन करने मे—

—परन्तु—

इतना कुछ कर चुकने के पश्चात् जब फिर भी उसे यथार्थ रूप में परितुष्टि एवं तरितृप्ति नही होती तो हारे हुए जुआरिये की तरह असमञ्जस मे पड़ जाता है और गम्भीरतापूर्वक इस विषय पर सोचने के लिये बाध्य हो जाता है कि अन्ततः उसकी तृप्ति होगी तो कैसे ! तब 'जहाँ चाह वहाँ राह' के अटल नियमानुसार किसी-न-किसी श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानीके सम्पर्क में ऐसा दुविधा में पड़ा हुआ मानव आ जाता है। अब वे इसे तृप्तिका यथार्थ उद्गम स्थान—आत्मा और उसकी प्राप्ति का भी साधन भली प्रकार बता देते है। न केवल बता देते हैं अपितु उसमें तल्लीन होने के अनमोल अनुभूत साधन भी समझा देते हैं, जिनको अपनाता हुआ कोई भी बड़भागी साधक बिना विलम्ब अपनी ही आत्मा में सदा-सदा के लिये तल्लीन हो जाता है और कई घण्टों को निर्विकल्प समाधिसे उठने

के पश्चात् उसके होठों को अनायास ही भगवान् जी के ये अनमोल शब्द स्पर्श करने लगते हैं—

आत्मनि एव आत्मना तुष्टः !
आत्मनि एव आत्मना तुष्टः !!

अपने इस अनमोल अनुभव को अब वह अवशेष जीवन में अनेकों को बता-बता कर अन्तर्मुखी कर देता है तथा जीवों के अन्तःकरण पर पड़ी हुई अज्ञानता को सदा-सर्वदा के लिये दूर करता हुआ उन्हें आत्म-अनुभव करवा कर गद्गद कर देने में पूरी सहायता करता है। इस ब्रह्मज्ञानी के सम्पर्क में आकर अनेक पुण्यवान् जीव आत्मवान् होकर तृप्त एवं परितुष्ट हो जाते हैं और आने वाली सन्तति के लिये एक उपादेय एवं अनुकरणीय आदर्श रख देते हैं।

—फलतः—

स्थायी परितुष्टि एवं परितृप्ति के लिये भगवान् जी की इस अनमोल सूक्ति के अनुसार मानव को बड़ी तत्परता एवं श्रद्धापूर्वक, अपनी ही अविनाशी आत्मा में तल्लीन होने के लिये, निरन्तर योगयुक्त होना ही पड़ेगा। सचमुच, स्थाई शान्ति के लिये इसके अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं।

—**—

बिलकुल इसके विपरीत ही है क्योंकि ये समस्त प्राणी-पदार्थ परिवर्तनीय, विकार्य एवं विध्वंसनीय होने के कारण जीव की आन्तरिक चिरकाल की मांग—यथार्थ शान्ति को प्रदान करने मे असमर्थ हैं। अतः जोव देर चाहे सवेर अपनी शान्ति को पूर्णरूपेण प्राप्त करने के लिये परमात्मा की ओर अपने मन को लगा देता है और अति शीघ्र ही सफल मनोरथ हो जाता है। इस तथ्य एवं रहस्य को समझ लेने के पश्चात् उसकी चहुँ ओर से आसक्ति (राग) सदा-सदा के लिये भस्मीभूत हो जाती है। अब वह भगवान् का अनन्य भक्त बन कर उन्ही से परितृप्त एवं परितुष्ट होता रहता है।

(ख) भयातीत अवस्था

निरासक्त हो जाने के पश्चात् भय की भयावक एवं अत्यन्त हानिकारक वृत्ति अन्त.करण को स्पर्श कर ही नही सकती क्योंकि भय होता है प्राप्त किये हुए प्राणी-पदार्थों के वियुक्त होने की सम्भावना से। इन प्राणी-पदार्थो से आसक्ति होने के कारण उसके मन में यह भयकारक वृत्ति बनी ही रहती है कि "कहीं ऐसा न हो जाये! हाय, कहीं ऐसा न हो जाये!!" परन्तु निरासक्त हो जानेके पश्चात् यह अत्यन्त दु.खदायी वृत्ति उसके अन्तःकरण से सदा-सर्वदा के लिये रूठ कर कहीं

गहरे गर्त में गिर कर चकनाचूर हो जाती है। इसलिये यह कहावत बहु-चर्चित है—

"मोह नहीं तो भय कैसा !"

सिद्ध पुरुष के अन्तःकरण में यह भय की दूषित वृत्ति ढूंढे जाने पर भी अब मिलती नही। अतः भगवान् जी फरमा रहे है—स्थितप्रज्ञ महामुनि के अन्तःकरणमें निरासक्त हो जाने के फलस्वरूप भय सदा-सदा के लिये छू-मन्त्र हो जाता है।

(ग) क्रोधातीत अवस्था

जब किसी चिरपालिता कामना को किसी कारण-वश चोट लगती है तो उस चोट के फलस्वरूप अन्तः-करण मे एकदम विक्षेपता में डाल देने वाली तथा चाण्डाल बना देने वाली क्रोध वृत्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है परन्तु स्थितप्रज्ञ महामुनि के अन्त.करण मे साधना के दिनो में ही अविद्या का उन्मूलन हो चुका होता है। अतः अविद्या के न होने से इस ससार सम्बन्धी किसी भी प्रकार की कामना का उदय नही हो सकता। अब वह सदा-आत्मतृप्त एवं आत्मसन्तुष्ट रहता है। नाना प्रकार की कामनायें स्थितधी मुनि के मन से सदैव के लिये निकल जाती है। अब परिस्थिति उसके अनुकूल हो या प्रतिकूल, वातावरण प्रिय हो या अप्रिय

जन-साधारण उसके साथ सद्व्यवहार करे या दुर्व्यवहार करे, मान हो या अपमान—इन नाना प्रकार की हृदय-विदारक घटनाओं के होने पर भी उसकी मानसिक अवस्था अब अपना सन्तुलन खोती नहीं। वह अपनी समता हर परिस्थिति में बनाये रखता है। अतः भगवान्जी फ़रमा रहे हैं कि स्थितप्रज्ञ पुरुष क्रोध को भी भली प्रकार जीतने में सफल मनोरथ हो जाता है।

सचमुच, बड़ा कठिन है राग, भय एवं क्रोध को सदा के लिये जीत लेना परन्तु जब जन्म-जन्मान्तरो के शुभ संस्कार उदय हो चुके हो तथा इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णजी की पूरी कृपा हो रही हो तो इनको जीतना बहुत ही सुगम एवं सरल-सा बन जाता है। इसलिये प्रभु-भक्त प्रेम में भर कर गुनगुनाने लगता है—

तू चाहे तो सब कुछ कर दे,
विष को भी अमृत कर दे।
पूर्ण कर दे उनकी आशा,
जो भी तेरा ध्यान धरे।
जय, जय, जय कृष्ण हरे,
दुखियो के दुःख दूर करे॥

—**—

(२२)

★ दर्शन प्राप्त-संसार समाप्त ★

—❋❋—

परम दृष्ट्वा निवर्तते

गीता—२/५९

—अर्थात्—

उसे तर्क-ए लज्जत की लज्जत मिले,
जिसे दीद-ए यारी की दौलत मिले।

—❋❋—

प्रिय-गीता पाठक !

कितना विचित्रालय है यह संसार ! और सचमुच, कितना ही अद्‌भुत है इसका निवासी मानव !!

'अनित्यं असुखम्' वाले संसार को अज्ञानता के मारे नित्य एवं सुखदायी समझकर कितनी बुरी तरह कञ्चन, कामिनी एवं कीर्ति के मायिक जाल में एक भोले पक्षी की नाईं जा उलझता है। बेचारे को लेने के देने पड़ जाते हैं। जिन्हें सुखदायी समझकर ग्रहण किया था, कुछ समय पश्चात् कवि के इस कथन के अनुसार बिलकुल विपरीत सिद्ध होते हैं—

जिन्हें हम हार समझते थे, गला अपना सजाने को।
वही अब सांप बन बैठे हमारे काट खाने को ॥

बहुत पुरुषार्थ करता है, सचमुच पर्दन तोड़ परिश्रम करता है इस स्वनिर्मित मायिक चक्र-व्यूह से निकलने के लिये। परन्तु साधन अशुद्ध रखनेके कारण दिन-प्रतिदिन और भी उलझता चला जाता है। इसी कौतुकी मानव की दुर्दशा को देखकर लेखनी अनायास ही चल पड़ती है यह लिखने के लिये—

'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'

गाँठ को खोलने का उपाय होता है कि जिस ओर वह लगाई गई है उसकी विपरीत दशा से खोलना प्रारम्भ किया जाये। परन्तु यहाँ तो बात कुछ और की ओर हो हो रही है। जिस ओर से गाँठ कसी जायेगी उन्ही युगल छोरो को खीचा जा रहा है। अब आप ही अनुमान लगाइये कि गाँठ तो और भी सुदृढ़ हो जायेगी, खुलेगी तो क्या! कहने का अभिप्राय यह कि जिन उपायो से उलझा जाता है उन्हीं उपायो से इस बीसवी शताब्दी का विचित्र मानव सुलझने की कोशिश कर रहा है। आह, कितनी विडम्बना है यह!

हमारे दया के सागर जगतगुरु भगवान् श्रीकृष्ण इस उपर्युक्त सूक्ति द्वारा भूल-भुलैयो मे पड़े हुए मानव को समझा रहे हैं—

* यदि इन पांच तत्वों से छूटना चाहते हो,
* यदि तीन गुणों से खलासी पाना चाहते हो;
* यदि इन अत्यन्त दुःखदायी नकारात्मक काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहङ्कार को वृत्तियों से सदा-सदा के लिये स्वतन्त्रता चाहते हो;
* यदि इन न समाप्त होने वाली कामनाओं से छुट्टी पाना चाहते हो;
* यदि इस गृहस्थाश्रम रूपी चक्र-व्यूह से सदा-सदा के लिये आजादी चाहते हो;
* यदि इस आवागमन के अति विचित्र एवं अत्यन्त क्लेशदायक चक्र से रहाई चाहते हो;   तथा
* यदि इस दुःखालय संसार रूपी कारागर की काल-कोठरी से स्वतन्त्र होकर सदा-बहार के दिव देखना चाहते हो;

तो मन-वचन-कर्म से एक होकर भागीरथ प्रयत्न करो इस जगत् रचयिता के दिव्य-दर्शनो के लिये। दुःखो से छूटने के लिये इसके अतिरिक्त और कोई उपाय हो ही नही सकता। लाख चीखो-चिल्लाओ, कूदो, उछलो, टहलो कितना ही मर्मस्पर्शी क्रन्दन क्यों न कर लो और कितने ही क्यो न छटपटा उठो—अपने

भगवान् के दैव-दुर्लभ दर्शन पाने के अतिरिक्त इस संसार से छुटकारा हो ही नहीं सकता। भगवान् के दर्शनों के अतिरिक्त छुटकारा पाने के जितने भी उपाय करते रहोगे वे सब-के-सब निरर्थक, निराधार एवं सरदर्दी ही सिद्ध होंगे। इसके विपरीत कई बार आजमा चुके हो। अब आजमाये हुए को बार-बार आजमाने से बाज आओ। तुम्हारा भला इसी में है—कर्म, भक्ति एवं ज्ञान इन तीनों में से रुचि एवं स्वभाव अनुसार एक मार्ग को पकड़ कर चढ़ते चलो, बढ़ते चलो और तबतक रुकने का नाम न लो जबतक कि अपनी सूक्ष्म एवं पवित्र वृत्ति को परमधाम तक पहुँचा न दो। दुःखों का निवारण चाहते हो तो भगवान् जी की इस धारणा को कसकर पकड़ लो और रोम-रोम से भगवान्‌जी की इस सूक्ति के साथ सहमत होकर पुकार उठो—

परं दृष्ट्वा निवर्तते !

परं दृष्ट्वा निवर्तते !!

पर दृष्ट्वा निवर्तते !!!

स्मरण रहे—

जब तक दीदार न होगा ।

तब तक भव से पार न होगा ॥

(२४)

* मानव का पतन *

'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'

गीता—२/६३

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

अर्थ—विषयों को ध्याते हुए पुरुष का उनमें सङ्ग उत्पन्न हो जाता है, सङ्ग से काम उत्पन्न हो जाता है, काम से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति का भ्रंश और स्मृति-भ्रंश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से वह आप नष्ट हो जाता है।

—अर्थात्—

लगाये जो महसूस अशिया से मन,
तअल्लुक बढ़े उनसे और हो लगन।
तअल्लुक से ख्वाइश का हो फिर जहूर,
हो ख्वाइश से गुस्से का दिल में फतूर॥

हो गुस्से से फिर तीरगी रूनुमाँ,

असर तीरगी का है सहव-ओ खता।

इसी सहव से अक्ल हो पायमाल,

जो जायल हुई अक्ल आया जवाल॥

प्रिय गीता पाठक !

"ग़नीमत समझ जिन्दगी की बहार,

कि मानुष चोला नहीं बार-बार।

तू कर इस तरह बाग़-ए हस्ती की सैर,

कि इन्जाम जिस सैर का हो बख़ैर॥

चुन अपने लिये फूल या खार तू,

कि नेकी बदी का है मुख़तार तू।

जो दिल चाहे इस जिन्दगी को सँवार,

बहार इसकी देख और उजाला निखार॥

जो दिल चाहे यह बाग वीरान कर,

ख़ुद अपनी तबाही के सामान कर।

जो दिल चाहे ले राह-ए अक्ल-ए स्वाब,

जो दिल चाहे कर अपनी मिट्टी खराब॥"

—याद रहे—

मानव का पतन उसी क्षण से प्रारम्भ हो जाता

है, जब वह सांसारिक नाम-रूपों को सत्य, नित्य एवं सुखदायी समझता हुआ उसकी प्राप्ति के लिये निरन्तर चिन्तन शुरु कर देता है। बार-बार के चिन्तन करनेसे उस विशेष प्राणी-पदार्थ के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति उत्पन्न हो जाने से उस पदार्थ को प्राप्त करने के लिये मन लालायित हो उठता है। जब तक वह सुखदायी दिखने वाला पदार्थ प्राप्त नहीं हो जाता तब तक उठते-बैठते, खाते-पीते, लेते-देते अर्थात् प्रत्येक छोटी-बड़ी क्रिया करते समय मन विक्षिप्तावस्था मे रहता है। नाना प्रकार के साधन एवं उपाय सोचे जाते हैं उसे प्राप्त करनेके लिये। 'जहाँ चाह वहाँ राह' के अटल नियमानुसार खूब पुरुषार्थ करते हुए वह इष्ट-वस्तु प्राप्त हो जाती है और प्राप्त हो जाने के पश्चात् मोह अपनी चरम सीमाको स्पर्श करने लगता है। जब तक वह वस्तु नहीं मिली थी, तब भी मन में विक्षेपता रही, यदि कोई उस वस्तु की प्राप्ति में बाधा बना तो उसके प्रति अत्यन्त क्रोध भडक उठा; क्रोध के वशीभूत होकर साधारण मानव की विवेकिनी-बुद्धि अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती है। बुद्धिका उचित-अनुचित भेद न कर सकने के कारण मानव क्षण-क्षण अश्लील विचारों एवं अभद्र कर्मो के करने से दिन-प्रतिदिन पतनोन्मुख होता चला जाता है। जैसे किसी भी वाहन

में 'ब्रेक' (Brake) न होने से वह किसी गड्ढे में गिर कर वाहन चालक एवं यात्रियोंसहित चकनाचूर हो जाता है, इसी प्रकार विवेक खो जाने से एक साधारण मनुष्य नाना प्रकार के दुःखों, कष्टो, क्लेशों एवं असाध्य रोगों में ग्रस्त हुआ-हुआ अपने को एक बहुत बुरी दशा में पाता है। ऐसी दुर्दशामें पुनः उन्नति की ओर बढ़ना उसके लिये असम्भव-सा प्रतीत होने लगता है। इसीलिये भगवान्‌जी चेतावनी भरे शब्दों में यहाँ कह रहे हैं—

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति !
बुद्धिनाशात् प्रणश्यति !!

सचमुच, इन्सान हाड़, माँस, चाम का पुतला नहीं और न ही पूर्णरूपेण विचारों का पुतला है। मानव निश्चय (Decision determination) का पुतला है।

—क्योंकि—

(क) जैसा निर्णय वैसा विचार,
(ख) जैसा विचार वैसा कर्म; और
(ग) जैसा कर्म वैसा फल।

इस सिद्धान्त के अनुसार हमें कहना ही होगा कि 'निश्चय' ही किसी मानव के जीवनरूपी महल की आधारशिला है।

—याद रहे—

जब तक आज का विचित्र एवं अद्भुत मानव इस देवी प्रकृति को भली प्रकार समझ नही लेता तब तक इसके निश्चयो, विचारों एवं कर्मों में भद्रता, पवित्रता एवं शुद्धता आ ही नही सकती और जब तक निर्णय एवं विचारो मे शुद्धता नही आयेगी तब तक यह दिन-प्रतिदिन पतन के गहरे गर्त मे गिरता ही चला जायेगा।

—फलतः—

यदि आप अपनी उत्तरोत्तर उन्नति चाहते हैं तो अपने बुद्धि के निर्णय श्रीगीताजी के निर्णयों के अनुसार बनाने का यथाशीघ्र प्रयत्न करें। उन्नति के लिये इसके अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं।

(२५)

मन व्यवस्थित-दुःख विसर्जित

(Mind merged—Afflictions dispersed)

'प्रसादे सर्वदुःखानाम् हानिः अस्य उपजायते।'

गीता—२/६५

—अर्थात—

दिल-ए पुरसकूं में कहाँ आये रंज,
कि दुःख दूर हो जायें मिट जाये रंज।

—❀❀—

प्रिय गीता-पाठक !

मन के बहुतक रङ्ग हैं छिन्न-छिन्न बदले सोय।
एक रङ्ग में जो रहे ऐसा विरला कोय॥

—❀❀—

मानव देहोमें आया हुआ जोव जन्मसे मरणपर्यन्त तक नावा प्रकार के कर्मों को करता हुआ चाहता है केवल स्थाई शान्ति। परन्तु बेचारे को यह अज्ञानता के कारण पता ही नही चलता कि इसकी यह इष्ट एवं मधुर कामना पूरी होगी तो किन-किन साधनों से और किसकी प्राप्ति से। निःसन्देह, साधन तो यह निरन्तर नाना प्रकार के यथामति यथाशक्ति जुटाता रहता है परन्तु शान्ति के यथार्थ उद्गम स्थान के विषय में अन-

भिन्न होने के कारण जाते हैं सब-के-सब निष्फल एवं निरर्थक! कहा भी तो जाता है—

वस्तु कही ढूंढे कहीं, कहो किस विधि पाये!

हमारे अत्यन्त हितैषी एव त्रिकालदर्शी महर्षियों ने इस तथ्य एव रहस्य को अपनी उच्चकोटि की घोर तपस्या के आधार पर भली प्रकार जान लिया था और इस अन्तिम निर्णय पर पहुँच गये थे कि—

मन के टिकाव (स्थिरता) का नाम शान्ति है तथा मन की भटकन का नाम दुःख है।

इस सिद्धान्त को भली प्रकार जान लेने के बाद उन्होंने अनथक परिश्रम करते हुए यह खोज निकाला कि कर्म, भक्ति तथा ज्ञान इन तीनों में से एक योग को भली प्रकार लेकर उसकी निरन्तर कमाई करने से सदा-सर्वदा के लिये मन को शान्त किया जा सकता है। संसार के प्राणी-पदार्थ अस्थिर, परिवर्तनशील एव नश्वर होने के कारण मन को स्थायी शान्ति प्रदान नही कर सकते।

—अतः—

उन्होने प्रत्येक विज्ञ मानव को योगयुक्त हो जाने के लिये शुभ मन्त्रणा दी तथा योग को अपनानेके लिये नाना प्रकार के सुगम, सरल तथा सुबोध अनुभूत

साधन बतलाये। जिस-जिस भी पुण्यवान् एवं भाग्य-वान् मानव ने उन महर्षियों के इस अनमोल कथन पर अडिग एवं अविचल विश्वास किया और योगयुक्त होने के लिये जुट गये, वे सब-के-सब कुछ ही समय में स्थाई शान्ति को प्राप्त करने में सुचारु रूप से सफल मनोरथ हुए।

—परन्तु—

इस पर विश्वास न करने वाले संशयात्मा दुर्भागी मानव विनाश को प्राप्त हुए।

—फलतः—

हमारे अत्यन्त निकटतम एवं प्रियतम जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण अपनी इस ब्रह्मविद्याप्रदायिनी एवं सर्वदुःखनिवारिणी श्रीगीताजी के दूसरे अध्यायके ६५वे श्लोक के पूर्वार्द्ध में अपने श्रीमुख से अपने श्रद्धालुओं, अनुयायियों एवं मुमुक्षुओंको समझाते-बुझाते हुए फ़रमा रहे हैं तथा सिद्धान्त रूप में प्रगट कर रहे हैं—

प्रसादे सर्वदुःखानाम् हानिः अस्य उपजायते।

—अर्थात्—

दिल-ए पुरसकूँ में कहाँ आये रंज,
कि दुःख दूर हो जायें मिट जाये रंज।

कहने का अभिप्राय यह है कि जब आत्मयुक्त

से इस प्रकार कहा करते थे —

GOD+MIND=MAN.

MAN—MIND=GOD.

-अर्थात्-

☞ बन्दे को बन्दा मत कहो बन्दा खुदा नहीं।
कामनाओं ने इसे जुदा कर रखा है॥

कई जन्मो के किये गये शुभ संस्कारो के उदय हो जाने के पश्चात् जब यह साधारण मनुष्य समझने लगता है कि आनन्द का एकमात्र स्रोत भगवान्‌जी ही हैं तब, केवलमात्र तब ही यह नाना प्रकार की कल्पित कामनाओ को त्याग कर अपने इष्टदेव भगवान्‌की प्राप्ति के लिये मनसा-वाचा-कर्मणा एक हो कर जुट जाता है। 'संसार के नाना प्रकार के सुखदायी दीखने वाले नाम-रूपो का पोल उसी दिन खुल जाता है जब यह अन्तर्मुखी हुआ-हुआ अपनी ही आत्मा मे शान्ति की खोज में लग जाता है। इस ज्ञानभरी अवस्था में अब पुराना कोई भी नाम-रूप इसे रञ्चकमात्र भी लुभाता नही। संसारके समस्त पदार्थों का आकर्षण अब नाम-मात्र का भी नही रहता। अब तो उसे एक ही धुन सवार हो जाती है कि किस तरह शीघ्रातिशीघ्र मानसिक वृत्तिको सूक्ष्म किया जाये और निर्विकल्प समाधि

में पहुँच कर अपने स्वरूप का अनुभव करते हुए कृत-कृत्य हुआ जाये।

इस उच्चकोटि की अवस्था के अनुभव के पश्चात् ही वह पुण्यवान् एवं भाग्यवान् यह भली प्रकार जान लेता है कि स्थायी शान्ति संसार सम्बन्धी नाना प्रकार की कामनाओं को त्याग कर आत्मा में तल्लीन हो जाने में है।

—क्योंकि—

अब उसका यह निजी अनुभव हो चुका होता है। इसी ठोस अनुभवके अधार पर उसका रोम-रोम वाणी का काम करता हुआ पुकार उठता है—

स: शान्तिमाप्नोति न कामकामी !
स: शान्तिमाप्नोति न कामकामी !!

गीता—२/७०

इस अनुभव के पश्चात् अब वह जन-साधारण में आ कर अपने इस अनमोल अनुभव का प्रचार प्रभु-प्रेरित हुआ-हुआ अहर्निश करना अपना परम धर्म समझता है। अज्ञानता की नींद में सो रहे अपने देश-वासियों को इसी अनुभवके आधार पर उठाना, जगाना एवं प्रभु की ओर लगाना यही एकमात्र अपने जीवन का अवशेष कर्तव्य समझता है जन-साधारण

इसके आदर्श जीवन को देख कर वह संसार की निःसारता को अनुभव करने में पर्याप्त सहायता प्राप्त करता है और अपने आपको कामनाओं को दलदल से निकालने के लिये भरसक पुरुषार्थ करने में जुट जाता है। ऐसे अनुभवी महापुरुष अब स्थान-स्थान पर यह अनमोल जयकारा लगाते हुए सुनाई देते हैं—

जिनको अपनी ख्वाइशों की परवरिश मन्जूर है।
मारफत का रास्ता उनकी नजर से दूर है॥

—**—

❀ गीता–गौरव ❀

"आस्तिक हिन्दू की दृष्टि में गीता का महत्त्व इसलिये सर्वाधिक है कि उसकी अवतारणा महाभारत के ऐतिहासिक युद्ध के अवसर पर कुरुक्षेत्र की पुण्य-भूमि में षोडशकला-सम्पूर्ण अवतार साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा हुई है।"

—❀❀—

'जीव किस प्रकार ऐश्वर्यवान्, मूर्तिमान्, धीमान् और सर्वथा सुयोग्य हो कर विनम्रतापूर्वक गुरुजनो का आदर-सत्कार करता हुआ सच्चे ज्ञानकी उपलब्धि कर सकता है, यह दरसाना ही गीता का अभिप्राय है।"

—**—

(२७)

'सब तज हरि भज'

—※※—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
गीता—२/७१

अर्थ—जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओ को त्याग कर ममतारहित, अहङ्काररहित तथा स्पृहा रहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है ।

—अर्थात्—

जो हस्ती करे ख्वाहिशें दिल से दूर,
हवस का न हो जिसके दिल में फ़तूर ।
न उसमें खुदी हो न हो मेर-तेर,
सकूँ उसको हासिल है, दिल उसका सेर ॥

—※※—

प्रिय गीताध्यायी !

भगवान्‌जी की यह बात शत-प्रतिशत सत्य है । जबतक मानव जन्म-जन्मान्तरों से बैठी हुई संसार सम्बन्धी मोघ आशाओं, कर्मों, वासनाओं, मोह-ममता एवं कल्पनाओं को अपने अन्तःकरण में से सदा-सर्वदा के लिये प्रभु-आश्रित होकर निकाल नही देता, तबतक आध्यात्मिक-मार्ग में कोई ठोस बात बनने वाली नहीं ।

धार्मिक तथ्यों पर घण्टो नही अपितु कई दिनों एवं जीवन-भर चर्चा हो सकती है परन्तु इन धार्मिक बातों का लाभ तो वही उठा पायेगा जो तीव्र विवेक और वैराग्य के सहारे अपने मन में ठहरी हुई सब-की-सब आशाओं एवं ऐषणाओं यथा—पुत्रेषणा, वित्तैषणा एवं लोकेषणा को भस्मीभूत कर देगा। तब, केवल-मात्र तब ही वह अपने इष्टदेव भगवान् जी के देव-दुर्लभ दिव्य एवं अलौकिक दर्शनो का अधिकारी बन सकेगा अन्यथा कदापि-कदापि नहीं। थोड़ा गम्भीरता-पूर्वक मनन करें तो भगवान्‌जी का यह कहना उचित एवं न्यायसङ्गत ही प्रतीत होता है। जिस पात्र में हम इस धरती के अमृत गो-दुग्ध को रखना चाहते हैं उस पात्र में पहले से रखी गई दाल-सब्जी को गिरा देना होगा और उसे शुद्ध राख से अच्छी प्रकार मांझ कर साफ-सुथरा कर लेना होगा। तब ही तो वह पात्र दूध रखने योग्य हो जायेगा। हम चाहें कि पात्र में सब्जी भी रहे और दूध भी रहे यह नितान्त असम्भव एव हास्यास्पद है।

प्रायः देखा भी यही जाता है कि जनसाधारण ऐहिक प्राणी-पदार्थों से आसक्ति छोड़ना नही चाहते तथा भगवान् की परमा-भक्ति को भी लिया चाहते हैं, ऐसा न आजतक हुआ है और न हो भविष्य में कभी

होगा। अतः हम सब जिज्ञासुओं, भक्तों एवं गीता-अनुयायियों के लिये उचित ही नहीं अपितु अनिवार्य भी हो जाता है कि हम मन में स्थित दूषित भावों, विचारों, कामनाओं एवं कुटेवों को सदा-सर्वदा के लिये दूर करके उसके स्थान पर विवेक, विराग, प्रेम, श्रद्धा, लगनता, नाम-स्मरण, उत्सुकता, दया, सन्तोष तथा प्रभु-मिलन की तीव्र तड़प इत्यादि गुणों को ढूँढ-ढूँढ कर अपने मन में रख लें ताकि हम यथाशीघ्र अपने इष्टदेव के अनमोल एवं अत्यन्त कल्याणकारी दर्शनों के अधिकारी बन सकें। इस विषय में अनुभवी महापुरुष हमें इस प्रकार चेतावनी भी देते हैं—

जिनको अपनी ख्वाइशों की परवरिश मन्जूर है।
मारफ़त का रास्ता उनको नज़र से दूर है॥

—※※—

जहाँ राम तहाँ काम नहीं,
जहाँ काम नहीं राम।
दोनों कबहुँ न मिलें,
रवि रजनी इक ठाम॥

—फलतः—

क्यों देरी कर रहे हो, निकालो इन गन्दी वासनाओं को और अधिकारी बन जाओ भगवान् के दिव्य-

दर्शनों के लिये। देरी तुम्हारी ओर से हो रही है, भगवान् की ओर से नहीं।

बन्धुओं!

माँग और पूर्ति (Demand & Supply) का प्रश्न है। प्रभु-प्राप्ति की तीव्र माँग (Intense demand) करोगे तो भीतर की सब चिरकालपोषिता वासनायें भी सदा-सदा के लिये छू-मन्त्र हो जायेंगी और भगवान्जी के दर्शनों की भी 'Supply' होने में विलम्ब न होगी।

आओ, सरधड़ की बाजी लगाकर आप भी ज़रा परख देखो।

स्मरण रहे—

'शुभस्यशीघ्रम्'

(Sooner the better)

(२८)

* कर्महीन कोई दीखे नाहिं *

—❀❀—

भगवान्जी ने कर्मयोग नामक तीसरे अध्याय में इस सार्वभौम सिद्धान्त को प्रगट करते हुए कहा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

गीता—३/५

अर्थ—कोई प्राणी क्षण-भर भी बिना कर्म किये के कभी नही रह सकता है । कारण कि सब (प्राणी-मात्र) को प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों से विवश होकर कर्म करना पड़ता ही है ।

—अर्थात्—

'हर मनुष्य हर समय ही करता रहता काम है ।
कर्म करना ही पड़े माया का यह परिणाम है ॥'

ऐ विचारशील गीतानुयायी पाठक !

याद रहे—मनुष्य योनि कर्मप्रधान है, अवशेष सब-की-सब योनियाँ भोगप्रधान मानी जाती हैं । एक साधारण मनुष्य अपने जन्म के साथ नाना प्रकार के संस्कारों, अधूरी इच्छाओं (अरमान) को लेकर आता है और इन्हीं अधूरी इच्छाओं को पूरा करने के लिये

अहर्निश कोल्हू के बैल की भाँति गर्दनतोड़ परिश्रम करता ही चला जाता है। घोर पुरुषार्थ करते हुए यदि किन्हीं कामनाओं को पूरा करने में सफल मनोरथ होता भी है तो वह विचित्र प्राणी यह देखकर आश्चर्य में पड़ जाता है कि अन्य अनेक प्रकार की नई कामनाओं ने स्थान ले लिया है। भारत में इस प्रसिद्ध कहावत के अनुसार कि—

'भण्डारिया भण्डारिया कितना भार ?
इक मुट्ठी चुक लै दूजी तैयार।'

बहुसंख्या में मनुष्य इस प्रकार की भूल-भुलैयों में दिखाई देते हैं। आह, खेद ! महाखेद !! अज्ञानता में ग्रस्त होने के कारण मानव यह समझता है कि उस को चिरपालित शान्ति की कामना संसार के प्राणी-पदार्थों से पूरी हो सकेगी परन्तु 'अनित्यं असुखम्' वाले प्राणी-पदार्थों से ऐसी आशा रखना नितान्त मूर्खता नहीं तो और क्या है ! पर साधारण मनुष्य को जाने बला कि यथार्थता होती है क्या ! वह तो अपनी अधूरी वासनाओं, इच्छाओं एवं कामनाओं के वशीभूत हुआ-हुआ खिलाड़ी के फुटबाल की तरह दोनों ओर (आन्तरिक एवं बाह्य) से बुरी तरह चोटें खाता-खाता यमलोक की यात्रा करने लगता है।

भगवान् जानें, यह अद्भुत मानव कब जानेगा कि शान्ति का यथार्थ स्रोत उसकी अपनी ही आत्मा किंवा परमात्मा है, संसार के प्राणी-पदार्थ कदापि-कदापि नहीं।

जबतक इस तथ्य एवं रहस्य को भली प्रकार जान नहीं लिया जाता तबतक अविद्या की ग्रन्थी कभी कट ही नहीं सकती और जबतक अविद्या की ग्रन्थी ही नहीं कटती तबतक अविद्याजनित कामनायें किसी भी दशा में न्यून एवं उन्मूलन नहीं हो सकेंगी। जबतक कामनायें ही अन्तःकरण से सदा-सर्वदा के लिये निकल नहीं जातीं तबतक मानव की यह अत्यन्त आश्चर्य में डालने वाली भंगदौड़ कभी समाप्त न हो सकेगी। अतः जरूरत है इस बात की कि मन की इन तीन गांठों, यथा—

(क) अविद्या

(ख) काम

(ग) कर्म

को परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करते हुए यथा शीघ्र भस्मीभूत कर देना चाहिये।

याद रहे—

जबतक इन तीन गांठों को मूलोच्छेद नहीं किया

जायेगा तबतक आन्तरिक एवं बाह्य विक्षेपता तथा व्यर्थ की भगदौड़ कदापि-कदापि समाप्त न हो सकेगी। इसीलिये तो भगवान्‌जी फरमा रहे हैं—

'सभी काम करने पे मामूर हैं,
गुणों ही से फ़ितरत के मजबूर हैं।'

—**—

गीता-गौरव

"हजारों के लिये गीता ही सच्ची माता है, क्योंकि कठिनाइयों में वह सान्त्वना रूपी पौष्टिक दूध देती है। मैंने उसे अपना आध्यात्मिक कोष कहा है, क्योंकि दुःख में मैं उससे कभी निराश नहीं हुआ हूँ। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें साम्प्रदायिकता आदि धार्मिक अधिकवाद का नाम भी नहीं है। यह सब मनुष्यों को प्रेरणा देती है। मैं तो चाहता हूँ कि गीता न केवल राष्ट्रीय पाठशालाओं में अपितु प्रत्येक स्कूल में पढ़ाई जाये। सब हिन्दू बालिका या बालक के लिये गीता का न जानना शर्म की बात होनी चाहिये।"

—**—

(२६)

★ यज्ञ के लिये कर्म ★

—❀—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
गीता—३/६

अर्थ—यज्ञ निमित्त कर्म के सिवाय अन्य कर्म से यह लोक कर्मबन्धन है। उस (यज्ञ) निमित्त कर्म को हे अर्जुन ! तू सङ्ग से रहित हो कर कर।

—अर्थात्—

अमल जिस क़दर भी हैं यज्ञ के सिवा,
वो दुनियाँ को बन्धन में रक्खें सदा।
किये जा तू सब काम यज्ञ जान कर,
लगावट न रख और न फल पर नजर॥

हमारे भारतीय कविने क्या ही अच्छा कहा है—

मरना भला है उसका जो अपने लिये जिये।
जीता है वो जो मर चुका इन्सान के लिये॥

निःसन्देह मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना यह एक दिन भी रह नहीं सकता, क्योंकि यह

संस्कारों का पुतला है। अपनी अधूरी इच्छाओं को पूरा करने के लिये ही इस धरती पर नवजीवन ले कर आया है। इन्हीं अरमानों को पूरा करने के लिये इसे विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों वातावरण एवं नाना प्रकार के प्राणियों के साथ अपनी दैनिक-चर्या में सम्पर्क जोड़ना पड़ता है। यदि यह कह दिया जाये कि यह सम्पर्क जोड़ने के लिये बाध्य है तो कोई अत्युक्ति न होगी।

भारतीय अनुभवी महापुरुषों ने मानव की इस बाध्यता को दृष्टिकोण में रखते हुए एक ऐसा साधन अपने घोर तप के आधार पर खोज निकाला जिससे एक साधारण मानव न केवल अपने अरमान ही पूरे कर सकता है अपितु साथ-ही-साथ अपना परलोक बनाने में सफल मनोरथ भी हो सकता है।

अभिप्राय यह है कि एक तीर से दो शिकार किये जायें। परम हितैषी महर्षियों ने 'निष्काम कर्मयोग' का उपादेय एवं अत्यन्त कल्याणकारी साधन बतला कर समस्त मानव जाति पर मानो बहुत बड़ा उपकार किया। इसके फलस्वरूप मानवजाति इतनी ऋणी हो गई कि सहस्रों शताब्दियाँ हो गईं और सहस्रों व्यतीत हो जायेंगी परन्तु मानव-जाति ऋषियों के इस उपकार

से कभी उऋण न हो सकेगी।

कितना अच्छा निष्काम कर्मयोग का साधन है यह! अर्थात् शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मों को साहसपूर्वक करते रहो परन्तु करो सब भगवदर्पण बुद्धि से। ऐसा करने से न तो सुख-दुःख की चिंता होगी, न हानि-लाभ का भय होगा; न मान-अपमान का ज्वर चढ़ेगा और न ही संयोग-वियोग; जन्म-मरण; जय-पराजय, सर्दी-गर्मी इत्यादि द्वन्द्वों का बवण्डर उठेगा। सचमुच, बड़ी निश्चिन्ततापूर्वक मानव लोकसंग्रहार्थ सब प्रकार के कर्तव्य-कर्मों को निधड़क हो कर किये जायेगा। ऐसे अनासक्तिपूर्वक किये गये कर्मों को ही 'यज्ञ' कहा जाता है। 'यज्ञार्थ कर्म' करने वाले कर्ता को न तो कर्म में किसी प्रकार की आसक्ति होती है और न ही कर्म से किसी प्रकार की फल की चाहना। ऐसी शुद्ध एवं उच्च-कोटि की भावना से कर्म करने पर मानव-जाति का अधिक-से-अधिक समय के लिये अधिक-से-अधिक लाभ नैसर्गिक रूप से होता चला जाता है।

—परन्तु—

क्या कमाल! कि कर्ता को इसकी रञ्चकमात्र भी खबर नहीं होती क्योंकि उसके अन्तःकरण के प्रत्येक कोने में यह बात सुस्थिर हो चुकी होती है कि—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।' गीता—२/४७

-अर्थात्-

'कर्म कर और फल की तू,

मन में कोई इच्छा न कर ।'

भगवदर्पणबुद्धि से कर्म करने पर मन सदा स्थिर एवं शान्त बना रहता है, जिसके फलस्वरूप नाना प्रकार के कर्म करने पर भी अन्तःकरण पर किसी प्रकार का भी कोई संस्कार नहीं पड़ता और कर्ता के लिये ऐसे कर्म किसी भी दशा में बन्धनकारक न होकर प्रत्युत अन्त करण को शुद्ध, विमल एवं निर्मल करने वाले ही सिद्ध होते हैं ।

-फलतः-

* इस विचित्र एव अद्भुत संसार के चक्कर से सदा-सर्वदा मुक्त होने के लिये यज्ञार्थ ही कर्म करने चाहियें, स्वार्थ में भर कर कदापि-कदापि नहीं ।

अतः—हम सब गीतानुयायियो एवं श्रद्धालुओं को भगवान्जी की यह अत्यन्त लाभप्रद चेतावनी सदा स्मरण रखनी चाहिये कि—

'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।'

—अर्थात्—

किये जा तू सब काम यज्ञ जान कर,

लगावट न रख और न फल पर नजर ।

(३०)

* गीता-जयन्ती महोत्सव *

—***—

तीन लोकों के मालिक होते हुए,
रथ चलाना तुम्हारा गजब ढा गया।
इक तो अवतार तुम्हारा कुछ कम न था,
उसपे गीता सुनाना गजब ढा गया॥

—***—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्वदेवमयो मनुः॥
गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते॥
भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥
(महा० भीष्म० ४३/१, २, ३, ५)

अन्य शास्त्रो के संग्रह की क्या आवश्यकता है? केवल गीता का ही भली प्रकार से गान (पठन और मनन) करना चाहिये; क्योकि यह भगवान् पद्मनाभ

(विष्णु) के साक्षात् मुखकमल से प्रकट हुई है। गीता समस्त शास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय है, गङ्गाजी सर्वतीर्थमयी है और मनु सर्ववेदमय हैं। गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द—ये चार प्रकार से युक्त नाम जिसके हृदय में बसते हैं, उसका पुनर्जन्म नही होता। महाभारतरूपी अमृत के सर्वस्व गीताको मथ कर और उसमे से सार निकाल कर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मुख में उसका हवन किया है।

'यह मोह माया कष्टमय तरना जिसे संसार हो।
वह गीता-नाव मे सुख से सहज में पार हो॥'

—※※—

'नन्द-नन्दन कृष्ण योगी और अर्जुन हो जहाँ।
नीति, वैभव, जय, श्री, यह मेरा मत होती वहाँ॥'

—※※—

ऐ गीताप्रेमी भाइयो एवं बहिनो! जरा सुनो तो—

श्रीकृष्ण जहाँ रहते हैं सदा,
मै गीत उसी के गाता हूँ।
गीता का पढ़ने वाला हूँ,
गीता की बात सुनाता हूँ॥

—※※—

गीता-जयन्ती कब ?

श्रीगीताजयन्तीका यह महापर्व मार्गशीर्ष शुक्ला ११, संवत्, २०३६, तदनुसार दिनाङ्क २९ नवम्बर १९७९ को गीतानुयायियों द्वारा भारतवर्ष के सभी छोटे-बड़े स्थानो में बड़ी धूम-धाम से मनाया जा रहा है। आज के दिन अवतारी दाता एवं जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णजी ने भक्त अर्जुन को कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ करने एवं उन्हें निमित्त बना कर हम सब जिज्ञासुओं और गीता-प्रेमियो के कल्याणार्थ परम सुख एवं ज्ञानामृत की वर्षा की थी। आज के ही पावन दिवस पर भगवती-श्रुति 'श्रीमद्भगवद्गीता' के पुनीत एवं पवित्र चरणों का स्पर्श कर हमारे भारत की धर्म-भूमि, कर्मभूमि, पुण्य-भूमि एवं अवतारी दाता भगवान् राम-कृष्ण को मातृ-भूमि गौरव को प्राप्त हुई थी। इस उत्साहवर्द्धक दिवस की पुण्यस्मृति में आज भारत का कण-कण, पत्ता-पत्ता एवं बच्चा-बच्चा आनन्द-विभोर हो रहा है।

गीता-जयन्ती क्यों ?

श्रीगीता-जयन्तीका यह महोत्सव 'भगवान् श्रीकृष्ण एवं श्रीमद्भगवद्गीता' के प्रति हमारी श्रद्धा, प्रेम, निष्ठा एवं लग्नता को बढ़ाने के लिये मनाया जाता है। आज का २०वी शताब्दीका आधुनिक मानव भौतिकवाद की

मादकता को सम्मुख रख कर निजी धर्म को पीठ दे चुका है, जिसके फलस्वरूप घर-घर दुःखों की भीषण ज्वाला प्रज्वलित हो रही है। ऐसे विकट समय एवं परिस्थितयो मे हमे सुख-शान्ति की सच्ची राह पर लाने के लिये गीता-गायक भगवान् श्रीकृष्णजी की दिव्य गीता-वाणी के उपदेश, सन्देश एवं आदेश की नितान्त आवश्यकता है। आज जबकि अधिकांश लोग वास्तविकता को न जान कर व्यर्थ की आशाओ, कर्मो एव लौकिक जानकारियो को प्राप्त करने में ही अपने जीवन का अनमोल समय नष्ट किये जा रहे हैं, ऐसे मूढ़ एवं अज्ञ व्यक्तियों को यथार्थता की पहचान द्वारा केन्द्रीभूत करने के लिये भगवान्जी के इस गीता-तत्त्व के प्रचार-प्रसार की परमावश्यकता का अनुभव होता है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति के पठित मानव को जहाँ अपने कल्याणकी राह नही सूझ रही वहाँ गीतोक्त वास्तविक तत्त्व-ज्ञान उसकी मानसिक विक्षेपता को समाप्त करने में क्षम एव समर्थ है। हमारे भारतवासी भूल गये हैं कि गीता में जो कर्म-भक्ति-ज्ञान की त्रिवेणी बह रही है, वही आज के पठित एवं अपठित जन-साधारण के पापों-तापों को दूर करने के लिये एवं उनके दैनिक जीवन मे उज्ज्वलता लाने के लिये बहुत उपादेय है।

हमारा लोक-परलोक श्रीगीताजी की अनमोल शिक्षा द्वारा ही बन सकता है, साँसारिक विद्याओं द्वारा कदापि—कदापि नही। 'गीता-जयन्ती' का यह पुण्य एवं पुनीत दिवस हमें याद दिलाता है कि हमारी भलाई गीता-अन्वेषक बनने में ही है न कि व्यर्थ के धन्धों में अपनी अनमोल आयु नष्ट करने में। समय की पुकार है कि हम गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णजी के इस अनु-पम एवं दिव्य रत्न—'गीता-ग्रन्थ' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें एवं तदनुसार व्यावहारिक जीवन बना कर न केवल स्वयं शान्त, आनन्दित एवं कृतकृत्य हों अपितु दूसरे कल्याणकामी जीवों को भी शुभ-प्रेरणा द्वारा उठाने का प्रयत्न करें।

गीता-जयन्ती कैसे ?

आज के पुनीत दिवस पर निम्नाङ्कित विधि से 'गीता-पूजन' करना आवश्यक है —

(१) ब्राह्ममुहूर्त्त (प्रातः २ से ४ बजे तक) में उठ कर स्नानादि से निवृत्त हो कर एवं श्वेत वस्त्र धारण करके बड़ी श्रद्धा एव प्रेमपूर्वक 'गीता-शास्त्र' को शिरो-धार्य करें, नतमस्तक हों, पुष्प-वर्षा के पश्चात् आरती उतारें एवं परिक्रमा करते हुए साथ-साथ यह भी उच्चा-रण करते जायें—

धन्य-धन्य है तुमको गीता माता,
तूने हमें जगा दिया ।
सो-सो के लुट रहे थे हम,
तूने हमें उठा दिया ॥

(२) तत्पश्चात् किसी निकटवर्ती 'सत्संग भवन' में जा कर प्रभातफेरो एवं शोभा-यात्रा में सम्मिलित होवें ।

(३) 'श्रीगीता-जयन्ती' का यह पुनीत महोत्सव बड़ी श्रद्धा, प्रेम, उत्साह एवं लग्नता के साथ मनाये, जिसमें 'श्रीगीताजी' सम्बन्धी प्रवचनों, व्याख्यानों, गीतों एवं कविताओ द्वारा अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज को रिझाने का पूरा-पूरा प्रयास किया जाये ।

(४) गीता-प्रचारक महोदय एवं कवि-गण जनता की माँग और गीता-प्रचार मे सहायता के लिये 'गीता जयन्ती' के उपलक्ष्य में बहुत प्रयत्न के साथ गीता-सभाओं में अपने प्रवचनो एवं कविताओं का आयोजन करें और बालको में पुरस्कार वितरण करें ताकि जन-साधारण में श्रीगीताजी एवं गीता-वक्ता भगवान् श्री-कृष्णजी के प्रति श्रद्धा, प्रेम एवं भक्ति-भाव बढ़े ।

(५) भगवान् श्रीकृष्ण की अमृतमयी वाणी

'गीता-उपदेश' के प्रचार-प्रसार मे अपनी ओर से भर-सक चेष्टा करें।

(६) 'श्रीगीता-जयन्ती' के इस उत्तम दिवस पर प्रतिदिन गीता-पाठ, स्वाध्याय, मनन, महत्सङ्ग करने एव गीतानुगामी बनने का दृढ़व्रत लें।

(७) श्रीगीताजी के माध्यम से जन-साधारण में मानव-धर्म के प्रति जागृति उत्पन्न करें ताकि समाज और देशकी सर्वविध उन्नति हो एवं उत्तरोत्तर भगवद्-भक्ति की वृद्धि-समृद्धि हो।

अन्त में आप सब गीता-श्रद्धालु पाठकों को इस पुनीत एवं पावन दिवस 'गीता-जयन्ती'पर मुबारिकबाद देता हूँ। आइये, आप सब हमारे साथ सम्मिलित होकर जयघोष करें—

जब कभी इन्सानियत का, गीत कोई गायेगा।
नाम गीता का ज़ुबां पे, सबसे पहले आयेगा॥

बोलिये -

गीताधारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज की जय !

(३१)

★ लेता है पर देता नहीं ★

—✿✿—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
गीता-३/१२

अर्थ—यज्ञ से सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें निःसन्देह मनोवांछित भोगों को देंगे । और उन (देवताओं) से दिये हुए भोगों को जो उन (देवताओं) के तईं बिना अर्पण किये के भोगता है, वह चोर ही है ।

–अर्थात्–

यज्ञों से नवाज़े हुए देवता,
तुम्हें नेमतें सब करेंगे अता ।
मगर ले के नेमत जो देता नहीं,
समझ लो कि वो चोर है बिल्यकीं ॥

—✿✿—

ऐ गीताभ्यासी जिज्ञासु साधक !
कैसा है यह इन्सान समझ में नहीं आता !
इसे लेना तो आता है मगर देना नहीं आता !!

—★★—

भले ही भगवान् ने अपनी इस सृष्टि की बहुत ही

विचित्र एवं अद्भुत बनाया है, परन्तु फिर भी इतनी भिन्नता के होने पर भी किन्हीं अटल नियमोंके आधार पर यह विश्व चलता आ रहा है और भविष्य में भी इसी प्रकार जल की लहरों की तरह बल खाता हुआ चलता ही जायेगा। यदि कोई पुण्यवान् एवं भाग्यवान् मानव सृष्टिकर्ताके इन अटल एवं अपरिवर्तनीय नियमों की सम्यक् रूप से जानकारी प्राप्त करता हुआ अपना लेगा तो अपनी जीवन की निश्चित अवधि को सुचारु रूप से व्यतीत करने में सफल मनोरथ होगा अन्यथा सर्द-आहें भरता, रोता, चिल्लाता एवं अत्यन्त कष्टमयी जीवन व्यतीत करता हुआ इस नश्वर दुनियाँ से अनायास ही ये वचन बोलता हुआ कूच कर जायेगा—

निकलना खुल्द का आदमसे सुनते आये हैं लेकिन ।
बहुत बे-आबरू होकर तेरे कूचासे हम निकले ॥

भगवान्जी के अटल नियमों में यह एक अटल नियम है—

'दो और लो'

अर्थात्—जो कुछ भी दूसरोसे लेनेकी आशा रखते हो, वह पहले स्वयं अपनी ओर से दूसरों के लिये करके दिखाओ। इसी सामाजिक अत्यन्त कल्याणकारी एवं उपादेय भाव को दृष्टिकोण में रखते हुए एक भारतीय

(३२)

★ यज्ञ में भगवान् ★

—❀❀—

'ब्रह्म नित्यम् यज्ञे प्रतिष्ठितम्'

गीता—३/१५

-अर्थात्-

सो वो ब्रह्म दुनिया पे छाया हुआ,
है यज्ञ के अमल में समाया हुआ।

—✲✲—

जोगी ताहि न जानिये, जो गीताहि न जान।
जोगी ताहि जानिये, जो गीता ही जान॥

प्रिय-गीता पाठक!

जीने को क्या है—यों तो कुत्ते, गधे, सूअर इत्यादि भी अपने-अपने जीवन के दिन यापन कर रहे हैं। सचमुच, जीवन तो उसी का सार्थक एवं उपादेय समझा जाता है जिसके जीने से अगणित प्राणियों का अधिक-से-अधिक लाभ हो सके। अजी क्या कहूँ! चहुँ ओर जिधर भी देख लीजिये आजकल के इस अति विचित्र एवं अद्भुत समय मे सब-के-सब प्राणी स्वार्थ भरे हुए है। नहीं-नहीं उनके शरीरका रोम-रोम स्वार्थमें

में जकड़ा पड़ा है। आपके साथ बातचीत करेंगे तो स्वार्थ को लेकर, व्यवहार करेंगे तो स्वार्थ को लेकर; आपके घर आयेंगे तो स्वार्थ को लेकर; आपको अपने घरों में निमन्त्रण देंगे तो केवल अपना उल्लू सीधा करने के लिये और तुम्हारी लम्बी-चौड़ी प्रशंसा के पुल बाँधेंगे तो भी अपने मनमें छुपे हुए किसी स्वार्थको पूरा करने के ही लिये !

–परन्तु–

इस धरातल पर ऐसे भी अहोभाग्यशाली मानव रूप में देव-पुरुष दिखाई देंगे, भले ही कहीं-कहीं ! परन्तु दिखाई देंगे अवश्य, जिन्होंने अपने इष्टदेव भगवान् के श्रीचरणों में अपने अहङ्कार को सदा-सर्वदा के लिये तल्लीन कर दिया है और प्रभु-प्रेरणा से प्रेरित हुए-हुए अपना जीवन सबकी भलाई के लिये अहर्निश व्यतीत किये जा रहे हैं, उनके अन्तःकरण में यह बात दयालु प्रभु ने बिठा दी है कि—

नहीं वो ज़िन्दगी जिसको जहाँ नफ़रत से ठुकराये,
नहीं वो ज़िन्दगी जो मौत के कदमों में गिर जाये।
वही है ज़िन्दगी जो नाम पाती है भलाई में;
ख़ुदी को छोड़ कर जो पहुँच जाती है ख़ुदाई में ॥

—**—

(३२)

★ इन्द्रियार्थ-जीवन व्यर्थ ★

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थं स जीवति'

गीता—३/१६

अर्थ—वह इन्द्रियो के द्वारा रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

-अर्थात्-

'पापायु इन्द्रियलम्पटी वह व्यर्थ ही भू-भार है।'

—※※—

ऐ गीता-पाठक ! श्रेय एवं प्रेय इस संसार में दो ही मार्ग हैं अर्थात् पहला मार्ग आत्मानुगामी एवं दूसरा विषयानुगामी कहा जाता है। घोर अज्ञानतावश भोले प्राणी को यह पता नही चलता कि जिस सुख-शान्ति को वह विषय भोगो में ढूंढ रहा है, उनमें कदापि-कदापि है ही नही अपितु वास्तविक शान्ति तो अन्तर्मुखी होकर आत्मस्थित होने में है। विषयी मनुष्यके अन्तः-करण को कामनाओं का बवण्डर श्रावणके बादलो की तरह आच्छादित कर देता है जिसके परिणामस्वरूप उसे उनकी पूर्तिके लिये दिन-रात गर्दन-तोड़ परिश्रम करना पड़ता है।

—परन्तु—

इच्छाओं की पूर्ति का यह ढंग नितान्त अनुचित है। कारण कि लौकिक कामनायें पूरी होने के स्थान पर अग्नि में ईंधन डालने के समान और भी प्रदीप्त हो उठती हैं अर्थात् आपस में 'Multiply' कर जाती हैं और इन्सान अवाक् रह जाता है! इससे भोले मानव की मानसिक विक्षेपता पहले से भी कही अधिक बढ जाती है। कहना न होगा कि इन्सान को लेने के देने पड़ जाते हैं। जो कुछ आनन्द पास होता है उससे भी वह हाथ धो बैठता है। ऐसे विषयानन्दी पुरुष के चेहरे की हवाइयाँ और हाथों के तोते सदा उड रहते हैं। जीवन को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिये वह अपने कर्तव्य कर्मों का भी भली-भाँति अनुष्ठान नही कर पाता। अन्ततः वह दुःख, रोग, विषाद की गहरी खाई में जा गिरता है जहाँ से निकलना असम्भव तो नही अपितु नितान्त कठिन अवश्य होता है। यदि दैव सयोग-वश कोई भूली-भटकी तुच्छ एहिक कामना की पूर्ति हो भी जाये तो वह भी क्षणभंगुर एवं अस्थाई ही सिद्ध होती है।

परिवर्तन प्रकृति का अपरिवर्तनीय नियम है।
(Change is the unchangeable law of Nature.)

प्राप्त हुई वस्तु समयानुसार फिर विलग हो जाती है। इस उपर्युक्त दैवी नियम से अनभिज्ञ मानव सांसारिक प्राणी-पदार्थों को ही नित्य, सत्य एवं सुखदायी जान कर हाथ धो कर इनके पीछे पड़ जाता है और अन्तमें मृग-तृष्णाके समान कुछ भी हाथ नहीं लगता। उसका समस्त जीवन भूल-भुलैयो में ही व्यतीत हो जाता है। कवि उसकी इस विक्षिप्त अवस्था का वर्णन इस प्रकार करता है:—

यह करता हूँ यह कर लिया यह कल करूँगा मै।
इस फिकर-ओ इन्तजार में शाम-ओ सहर गई॥

सृष्टि-क्रम मे विघ्न उत्पन्न कर के अन्यायपूर्वक धन एवं ऐश्वर्य का संग्रह करने वाला वह 'अघायु' दोष का भागी बनता है। उसके मन की यह सब्जबागियाँ अन्त में अत्यन्त हानिकारक एवं दु:खदायी ही सिद्ध होती है। ज्यों-ज्यों उसकी इन्द्रियाँ एवं मन और भी अधिक मचलता है त्यो-त्यों लोभ का भूत पहले से भी कही बढ़-चढ़ कर सिर पर सवार हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप मानव दुराग्रही बन कर अनेक पाप-कर्मों में रत हो जाता है। आप भली प्रकार जानते ही है कि लोभ सब पापो का बाप है जोकि जीव को नाना प्रकार के जघन्य कृत्य करने के लिये बाध्य कर देता है।

वास्तविक ग्रानन्द ऐहिक भोग-पदार्थों में नही अपितु योगाभ्यास द्वारा प्राप्त की गई मन को एकाग्र अवस्था में निहित है। इन्द्रियार्थ जीवन-यापन करने वालों के लिये गीता-रहस्यकार लिखते हैं—'अपने कर्तव्य का पालन न करना ही सृष्टिचक्र के अनुसार च चलना है। अपने कर्तव्यको भूल कर जो मनुष्य विषयों में आसक्त हो कर निरन्तर इन्द्रियो के भोगो में ही रमण करता है, जिस किसी प्रकार से भोगों के द्वारा इन्द्रियों को तृप्त करना ही जिसका लक्ष्य बन जाता है, उसे 'इन्द्रियाराम' कहा गया है। ऐसा स्वेच्छाचारी मनुष्य दूसरों के हित-अहित को कुछ भी परवाह न करता हुआ दिन-रात पाप-क्रियाओं में ही गर्त रहता है। पापों से कुसंस्कार, कुसंस्कारो से कुविचार, कुविचारो से कुकर्म और कुकर्मों से फिर कुसंस्कारों का यह अद्भुत चक्र निरन्तर चलता रहता है, क्योंकि नियम भी यही है—

'क्रिया–प्रतिक्रिया आमने सामने और बराबर होती है'

(Action—Reaction equal and opposite.)

इस प्रकार अन्तःकरण दूषित एवं अश्लील संस्कारो का करोषचय (Dung Hill) बन कर रह जाता है या यों कह दें कि उसका समस्त जीवन ही व्यर्थ हो जाता

है। पश्चात्ताप के अश्रु गिराते हुए वह कह उठता है—

अरमानों की दुनियां में हम दिल क्यो लगा बैठे।
जो सुख कुछ पल्ले था उसको भी लुटा बैठे॥

स्थायी आनन्द-शान्ति उसके लिये एक स्वप्न-सा दिखाई देती है और अन्त में जीव नयी-नयी वासनाओं की गठरी सिर पर बांध कर इस नश्वर एवं क्षणभंगुर संसार से कूच कर जाता है। ऐसे मन्दभागी पुरुष के लिये भगवान्‌जी कहते हैं कि ऐ जीव! तूने मेरी आज्ञा को शिरोधार्य नही किया, इसलिये तेरा यह जीवन ही व्यर्थ गया! यथा—

'पापायु इन्द्रियलम्पटी वह व्यर्थ ही भू-भार है।'

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(३४)

ॐ आत्मवित-परितृप्त ॐ

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

गीता—३/१७

अर्थ—जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

—अर्थात्—

'जो आत्मरत रहता निरन्तर, आत्म-तृप्त विशेष है।
संतुष्ट आत्मा में, उसे करना नहीं कुछ शेष है॥'

—❀❀—

प्रिय गीता-अन्वेषी !

अपने मन में डूब कर, पा जा सुराग-ए-जिन्दगी।
तू अगर मेरा नहीं बनता न बन अपना तो बन॥

जब तलक अपनी समझ इन्सान को आती नहीं।
तब तलक दिल की परेशानी कभी जाती नहीं॥

☞ आत्मारामी सदा विश्रामी—
अन्तर्मुखी सदा सुखी।

इस अद्भुत संसार में हमें स्थूल रूप से दो प्रकारके मानव प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूपसे दिखाई देते हैं। एक तो वह वर्ग है जो इस संसार के प्राणी-पदार्थों को नित्य, सत्य एव सुखदायी मान कर अहर्निश उन्हीं की प्राप्ति एवं रक्षा में अपने जीवन की अवशेष घड़ियाँ व्यतीत करते हुए इस फानी-ए जहान से कूच कर जाता है। पैदा हुए तो रोते हुए, पाले-पोसे तो चिल्लाते हुए, जीवन के दिन व्यतीत किये तो भार से लदी हुई बैलगाड़ी के समान चरी'''चरी'''करते हुए और इस नश्वर संसार को छोड़ गये तो भी हाथ और ऐड़ियाँ रगड़ते हुए ही। ऐसे मन्दभागियों के लिये एक, भारतीय कवि क्या ही मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी शब्द व्यक्त करता है—

निकलना खुल्द का आदम से,
सुनते आये हैं लेकिन।
बहुत बे-आबरू हो कर,
तेरे कूचा से हम निकले॥
हजारों ख्वाहिशें ऐसी,
कि हर ख्वाहिश पे दम निकले।
बहुत निकले मेरे अरमान,
लेकिन फिर भी कम निकले॥

—

अब लीजिये, दूसरे वर्ग को। सचमुच, ये इस वसुन्धरा पर चन्द्रमा के समान चहुँ ओर अपने गुणोंकी ज्योत्सना वितीर्ण करते हुए देव-पुरुष हैं। इनको निहार कर धरती का कण-कण गद्गद हो उठता है। ये हैं तेजस्वी, तपस्वी एवं यशस्वी। न कुछ वास्ता है यहाँसे, न वहाँ से, न इससे न उससे। टटोल लो इनका भली प्रकार सब, क्या मजाल जो राग-द्वेष की रञ्चकमात्र भी कहीं दुर्गन्ध आ जाये! पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी हैं ये! अपनी ही आत्मा में सदा सर्वदा रमण करते हैं, गमन करते हैं और विनम्रतापूर्वक नमन करते हैं!! इनका मनोविनोद है तो आत्मा, विश्रामस्थली है तो आत्मा, माँ-बाप हैं तो आत्मा, बहिन-भाई है तो आत्मा; मित्र एवं सुहृद् है तो आत्मा अर्थात् इनके लिये 'आत्मा ही हर मसाले-पिपलामूल है, सर्वस्व है, नहीं-नहीं सर्वसर्वा है। जब भी देखो इनके पवित्र एवं उज्ज्वल होठों पर अनायास ही ये शब्द नृत्य किया करते हैं—

(क) त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या च द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

—:o:—

(ख) न बाप बेटा न दोस्त दुश्मन,
न आशिक और सनम किसी के।
अजब तरह की हुई सफ़ाई,
न कोई हमारा न हम किसी के॥

—❁❁—

(ग) जब उमड़ा दरिया उल्फ़त का,
हर चार तरफ आबादी है।
हर रात नई इक शादी है,
हर रोज मुबारिकबादी है॥

—❁—

(घ) कुछ ज़ुल्म नहीं, कुछ जोर नहीं,
कुछ दाद नहीं, फरियाद नहीं।
कुछ क़ैद नहीं, कुछ बन्द नहीं,
कुछ जब्र नहीं, आज़ाद नहीं॥
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं,
वीरान नहीं, आबाद नहीं।
हैं जितनी बातें दुनियां की,
सब भूल गये, कुछ याद नहीं॥

—❁—

(ङ) इक रिश्ता रब्ब से रखते हैं,
हम उसी के अन्दर बसते हैं।

रोते हैं न हँसते हैं,
हर दम ॐ-ॐ ही जपते हैं ॥

(छ) हम प्रेम नगरिया में रहते दो,
कुछ सुनने दो कुछ कहने दो।
इस प्रेम जाल के पिंजरे से,
आजाद न कर, आजाद न कर ॥

आह, जब भी इनको देखो मस्त-अलमस्त! हशाश ! बशाश ! तेजस्वी एवं ओजस्वी ललाट, मयूर को भी लजाने वाली निराली एवं अनोखी चाल। रस भरे, प्रेमभरे एवं हृदय-ग्राही युगल नयन—मानो चाँद और सूर्य इन्हीं के नेत्रों में ही थक-थक कर एवं चूर हो कर विश्राम करते हैं। कहाँ तक वर्णन करूँ इस धरती के देवता का ! सचमुच, अकथनीय है इनकी दिव्य कथा-कहानी ! अवर्णनीय एवं अनिर्वचनीय है इनका आन्तरिक उल्लास ! अहोभाग्यशाली है वह जो नैसर्गिक रूप से निर्झर की भाँति यदा-कदा निर्गत होते हुए इनके ज्ञान एवं प्रेम से सने हुए उद्गारों को सुन पाता है और अपने जीवन को सफल बना लेता है ! निःसन्देह, सदा बहार तो इनके श्रीचरणों में लोटपोट

हो होती रहती है और किंकरी की भांति इनके श्री-चरणोंको पलोटती ही रहती हैं। भारतीय कवि इनकी इस अति मनोहारी एवं आकर्षक दिव्य-दशा को निहार कर अपनी लेखनी को इस प्रकार सफल किया चाहता है :—

निराली चाल है इनकी,
जमाने से निराले हैं।
ये आशिक कौन-सी बस्ती के,
या रब्ब ! रहने वाले हैं ॥

॥ अखण्ड आनन्द ॥

गीता-गौरव

"गीता-ज्ञान विषय दावाग्नि के लिये वर्षा है।"

—

"गीता-ज्ञान अज्ञानी को ज्ञानी, कायर को शेर और क्षण-क्षणमें मरने वालोंको अमर बनाने वाला है।"

—

"भगवान् सबके हृदय-विहारी हैं और जगत्-भरमें व्यापक भी हैं। उनके साक्षात्कार की विधि बताना गीता का लक्ष्य है।"

—

(३५)

❋ निरासक्त—सदा मुक्त ❋

—❋❋—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

गीता—३/१९

अर्थ—इसलिये लगातार सङ्गरहित होकर तू करने योग्य कर्म को कर, क्योंकि निरासक्त होकर कर्म करता हुआ पुरुष (गति व स्वरूप) को प्राप्त होता है।

—अर्थात्—

'अतएव तज आसक्ति कर, कर्तव्य कर्म सदैव हो।
नर कर्म को करता परमपद प्राप्त करता है वही॥'

ऐ गीता पाठक!

वो चाल, चल कि उमर खुशी से कटे तेरी,
वो काम कर कि याद तुझे सब किया करें।
जिस जा तेरा जिक्र हो, वो जिक्र खैर हो;
और नाम तेरा लें तो अदबसे लिया करें॥

—❋❋—

सहस्रों में कोई विरला अहोभाग्यशाली मानव मनसा-वाचा-कर्मणा एक हुआ-हुआ अन्तर्मुखी होता है। अन्तर्मुखी होकर यथामति, यथाशक्ति वह उत्तरो-

तर योगाभ्यास की सीढ़ी के डण्डों को क्रमानुसार पकड़ता चला जाता है। अभ्यास में आने वाली नाना प्रकार की बाधाओं एवं विघ्नों को वह अपने इष्टदेव भगवान्‌जी की अपरम्पार कृपा से लाँघता हुआ अपने मार्ग में अडिग एवं अडोल बना रहता है। जब भी देखो विवेक एवं विराग में मस्त, मननयुक्त एवं योग-रत। वह अपना अधिक-से-अधिक समय एकान्त में व्यतीत कर देता है तथा दैनिक व्यवहार में भी 'युक्त-आहारविहारस्य' की लोकोक्ति को पूर्णरूपेण चरितार्थ कर रहा होता है। श्रीगीताजी में भगवान्‌जी के इस अनमोल उपदेश—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

गीता—६/१५

अर्थ—इस प्रकार सदा अपने-आपको (आत्म-ध्यान) में युक्त करता हुआ नियत मन वाला योगी मुझ में स्थित परम निर्वाण-रूप शान्ति को प्राप्त होता है।

—अर्थात्—

यों जो नित्य-चित्त युक्त योगाभ्यासमें रत नियत हो।
मुझ में टिकी निर्वाण परमा शान्ति पाता है वही॥

का सचमुच, साकार रूप बन जाता है।

लौकिक एवं पारलौकिक, जो कुछ भी छोटी-बड़ी क्रियायें करता है वे सब प्रभु-आश्रित एवं प्रभु-समर्पित भावना से ही ! उसके कर्मों में रञ्चकमात्र भी आसक्ति का चिह्न दिखाई नहीं देता । अवसरानुसार जैसा वह अपना व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं पारमार्थिक रूप से कर्तव्य समझता है उसे केवल 'निमित्त-मात्र' की भावनासे करता चला जाता है । कर्म करने के पश्चात् उसे मान मिले या अपमान, हानि हो या लाभ, जय हो या पराजय इत्यादि द्वन्द्वों की ओर उस का तनिक भी ध्यान नहीं होता ।

—क्योंकि—

प्रभु की अपार कृपा से उसकी बुद्धि, मन एवं समस्त इन्द्रियाँ निरासक्ति का पाठ सम्यक्‌रूप से पका कर चुकी होती हैं । निःसन्देह, बाह्यरूप से उसे नाना प्रकार के कर्म होते हुए दिखाई देते हैं परन्तु उन कर्मों का प्रभाव उसके अन्तःकरण पर निरासक्त हो जाने के कारण नहीं पड़ता । भगवान्‌जी के अनमोल शब्दों में इसे 'कर्म में अकर्म' कहा जाता है । ऐसा बड़भागी शाध्यातिशीघ्र अपने अन्तःकरण को विमल एवं निर्मल करने में सराहनीय सफलता प्राप्त कर लेता है । अब उसका अन्तःकरण बिल्लौर के शीशे की भाँति बिल्कुल

स्वच्छ, शुद्ध एवं उज्ज्वल बन जाता है। इस प्रकार निरासक्ति की भावना के प्रताप से अब वह अपने इष्टदेव भगवान्‌जी के दिव्य-दर्शनों को पाकर सदा-सर्वदा के लिये कृतकृत्य हो जाता है।

इस उत्तम अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् अब वह शारीरिक रूप से जबतक भी इस धरती पर रहता है, अनेक सतोगुणी जीवों को अपने पावन एवं दिव्य सम्पर्क तथा अमृतमयी वाणी से पवित्र करता रहता है। सचमुच, वह इस धरती का चन्द्रमा ही कहलाता है। यथार्थ रूप में अब वह सबके लिये तरन-तारन ही सिद्ध होता है। ऐसे महापुरुष की महिमा गाते हुए हमारे सन्त शिरोमणि गुसाईं तुलसीदासजी महाराज फ़रमाते हैं—

सुत दारा और लक्ष्मी पापी के भी होय।
संत समागम हरि कथा तुलसी दुर्लभ दोय॥

(३६)

★ लोकसंग्रहार्थ कर्म ★

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

गीता—३/२०

अर्थ—जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्म द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए थे । इसलिये तथा लोकसंग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करने को ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है ।

—अर्थात्—

'ध्यान उनका रख के तू निर्लिप्त हो निज कर्म कर ।
परम सिद्धि पाई थी राजा जनक ने ईश्वर ॥'

—※—

प्रिय गीता पाठक !

बड़ा आदमी जो बनाये असूल,
उसे सारी दुनियाँ करेगी कबूल ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाज के बिना वह रह ही नहीं सकता क्योंकि उसके मन में नाना प्रकार की अधूरी इच्छायें भरी पड़ी हैं । इच्छाओं की

पूर्ति के लिये उसे अनेक प्राणी-पदार्थों को सहायता की आवश्यकता अनिवार्य रूप से प्रतीत होती है। अत मानव के लिये यह परम आवश्यक हो जाता है कि वह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये सर्वप्रथम दूसरों के स्वार्थ को पूरा करने के लिये कटिबद्ध हो जाये। यदि वह केवल अपने स्वार्थों को ही पूरा करने की योजनाये बनाता रहेगा और दूसरों के स्वार्थ को पूरा करने के लिये कष्ट एवं अपना समय व्यर्थ समझेगा तो दिन-प्रतिदित उसके मनमें विक्षेपता एवं एक विचित्र प्रकार का सघर्ष चलता ही रहेगा। इन्ही भावों को हृदयंगम करके एक भारतीय कवि क्या ही निराले एवं हृदय-स्पर्शी शब्दों में इस प्रकार कह रहा है—

कलयुग नहीं करयुग है यह,
यहाँ दिन को दे और रात ले।
क्या खूब सौदा नकद है,
इस हाथ दे, उस हाथ ले॥

—:०:—

इसी सत्य एवं तथ्य को दृष्टिकोण में रखते हुए भगवान्‌जी लोकप्रिय एवं लोकमान्य अत्यन्त उपयोगी एवं उच्चकोटि के परोपकारी महाराजा जनक जी का दृष्टान्त देते हुए अपने इस सिद्धान्त को और भी अधिक

पुष्टि कर रहे हैं। निष्काम कर्मयोगी जनकादि अनेक महापुरुषोंने न केवल घोर तप ही किया, अपितु साथ-ही-साथ सब प्राणियों की भलाई के लिये भी अपना अमूल्य समय लगा कर, अपने जीवन को और भी अधिक सफल बनाते रहे।

सफल परोपकारी होने के लिये किसी भी मनुष्य में इन तीन गुणों का होना परम आवश्यक है, यथा-

उद्योगी (Industrious)

सहयोगी (Co-operative)

उपयोगी (Benificial)

प्रत्येक सामाजिक प्राणी को इन अत्यन्त उपयोगी गुणों को यथाशक्ति अपने जीवन में ढालने का भागीरथ पुरुषार्थ करना चाहिये, तब ही जाकर वह स्वकीय एवं परकीय को पूरा-पूरा लाभ पहुँचा सकता है। सचमुच, यदि प्रत्येक मानव अपने-आपको उद्योगी, सहयोगी एवं उपयोगी बना ले तो कुछ ही समय में इस धरती पर स्वर्ग उतर आये जिसको देखने के लिये देवी-देवता भी तरसा करें। इसीलिये तो कहा जाता है—

फरिश्ते से बेहतर है इन्सान बनना,
मगर इसमें लगती है मेहनत ज्यादा।

जो सीखो किसी को सिखाते चलो,

दीये से दीये को जलाते चलो।

—❋❋—

आइये, आसक्तिरहित होकर दूसरों के कल्याणार्थ कर्म करने वाले बनें ताकि हम भी परमात्मा की प्राप्ति के अधिकारी बन जाये!

—❋❋—

☆ गीता-गौरव ☆

"मनुष्य सर्वहित के लिये किस प्रकार कर्म-फल का त्याग करे, यह आवश्यक उपदेश करना गीता का काम है।"

—❋❋—

"भगवान् श्रीकृष्णजी ने अन्जान जीवों के हितार्थ एक-एक श्लोक वा श्लोक-खण्ड में गीता-तत्त्व गागर में सागर की तरह भर कर रख छोड़ा है। जरूरत है कि हम उसे अपनावें और अमल मे लावें।"

—❋❋—

"भगवान् मनुष्यमात्रके गुरु है। उनका सर्वस्व शिष्य के लिये है। गीता उन्होंने गुरुमन्त्र के रूप में दी है। गीता का आचरण उनकी गुरुदक्षिणा है।"

—❋❋—

(३७)

※ नक्ल के लिये भी अक्ल ※

—※※—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

गीता—३/२१

अर्थ—श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य समुदाय उसी के अनुसार बरतने लग जाता है।

—अर्थात्—

जो कार्य करता श्रेष्ठ जन करते वही हैं और भी।
उनके प्रभाशित-पंथ पर ही पैर धरते हैं सभी॥

—※※—

प्रिय गीता-पाठक! अब अनेक लघु लेखों से यह बात तो आप भली प्रकार जान ही चुके होंगे कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना इसका जीवन निर्वाह नितान्त असम्भव है क्योंकि यह नाना प्रकार की वासनाओं को ले कर उत्पन्न हुआ है और उन्हीं वासनाओं की पूर्ति के लिये अहर्निश खूब पुरुषार्थ किये जा रहा है। बहुत गुण हैं इस मानव में परन्तु

एक अवगुण किंवा त्रुटि ने इसके सारे गुणों पर पानी फेर दिया है और वह है—अन्धा-धुन्ध दूसरों की हर प्रकार से नक्ल करना। मन्दभागी मानव नही जान पा रहा कि जिनका मैं अनुकरण (Imitation) कर रहा हूं क्या वे हर प्रकारसे सन्तुष्ट एवं परितृप्त भी हैं। आह, इतनी सोचनेकी भला बुद्धि ही कहां! इस अन्ध-अनुकरण ने आज के मानव को कहीं का भी नही छोड़ा। दुःख भी पाता है, कष्ट भी उठाता है और नाना प्रकार के क्लेशों में अपने-आपको ग्रस्त भी करता है परन्तु फिर भी स्वतन्त्रतापूर्वक नही विचारता कि यह अनुकरण उसे कितना महगा पड़ रहा है!

भाइयो! अनुकरण करना बुरा तो नही है, अवश्य करना चाहिये किन्तु नक्ल करने से पूर्व यह सम्यक् प्रकारसे सोच लेना चाहिये कि किसकी नक्ल की जाये अर्थात् जिसके अनुकरण करने से चितायें घटती चली जायें, स्वनिर्मित दुःख दिन-प्रतिदिन कम होते चले जायें तथा शान्ति एवं आनन्द उत्तरोत्तर बढता चला जाये। यही तो सब प्राणियो के अन्तःकरण की एक ही मांग है। हमारे ऊपर अहेतुकी कृपा करने वाले दया के सागर भगवान्‌जी इस जटिल समस्या का बहुत ही सरल उपाय बतला रहे हैं और वह है—

'महाजनो येन गतः सः पन्था'

—अर्थात्—

बड़ा आदमी जो बनाये असूल,

वही सारी दुनियाँ करेगी क़बूल।

अब प्रश्न उठता है कि श्रेष्ठ कौन ? यह दूसरों के लिये विवाद-ग्रस्त विषय (Controversial Topic) हो सकता है परन्तु हम सब गीतानुयायी एवं श्रद्धालुओं के लिये कदापि-कदापि नहीं !

स्मरण रहे—इस धरती पर यदि किसी ने पुरुषोत्तम रूप में पग धरे तो वे थे—

'योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण'

—फलतः—

हमारे इष्टदेव जगद्गुरु भगवान्‌जी ने अपनी अद्वितीय एवं साधकके लिये उत्तम पथ-प्रदर्शिका (Guide) श्रीगीताजी में जो कुछ भी आचरण के लिये आदेश एवं उपदेश दिया है, सचमुच वही, बिल्कुल वही अनुकरण किये जाने योग्य है। इसी तथ्य एवं सत्य को लेकर हमारे 'Guide, Friend and Philosopher' भगवान् श्रीकृष्ण गीताजी के १६वें अध्याय के अन्तिम श्लोक में स्पष्ट रूप से आदेश दे रहे हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तम् कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

अर्थ—इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जान कर तू शास्त्रविधि से नियत कर्म ही करने योग्य है।

—अर्थात्—

'इस हेतु कार्य-अकार्य-निर्णय,
मान शास्त्र प्रमाण ही ।
करना कहा जो शास्त्र में है,
जान कर वह, कर वही ॥"

—अतः—

☞ श्रीगीताजी की उपयोगी शिक्षा के अनुसार जो कोई भी बड़भागी मानव आचरण करेगा वह अपने जीवन को सफल बनाता हुआ अनेक व्यक्तियों के लिये अनुकरणीय एवं सराहनीय हो जायेगा।

—फलत:—

स्मरण रहे—भगवान्‌जी के ये अनमोल बोल—

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'

—अर्थात्—

'जो कार्य करता श्रेष्ठजन करते वही हैं और भी।'

जय भगवत् गीते !

(३८)

* क्रियात्मक जीवन प्रभावशाली *

—※※—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

गीता—३/२६

अर्थ—परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियो की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे। किंतु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भली-भाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाये ।

-अर्थात्-

ज्ञानी न डाले भेद,
कर्मासक्त की मति में कभी ।
वह योग-युक्त हो कर्म कर,
उनसे कराये फिर सभी ॥'

—※※—

प्रिय गीता-पाठक !

हमारे नीतिवानों एवं आचार्यों का अनुभव है—

एवं निराले ढंग से कह रहा है—

दुनियाँ अमल से नापती है बात से नहीं।
बेकार है जो मुफ़्त में घोगा करे कोई॥

—फलतः—

दूसरों को अच्छा बनाने के पूर्व पहले स्वयं को अच्छा बना लें। २०वी शताब्दी के ज्ञानसम्राट् मेरे गुरुदेव स्वामी रामतीर्थजी महाराज बड़े ही मार्मिक एवं प्रभावशाली शब्दों में कहा करते थे—

Wanted! Wanted!! Wanted!!!

—Reformers—

Not of others but of themselves!

—अर्थात्—

जरूरत है! जरूरत है!! जरूरत है!!!

—सुधारकों की—

दूसरों के लिये नहीं, अपितु अपने-आपको सुधारने वालों की!

(३६)

कर्म हों प्रकृति से, मूर्ख माने निज शक्तिसे'

—❊❊—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
गीता—३/२७

अर्थ—वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहङ्कार से मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है।

—अर्थात—

'होते प्रकृति के ही गुणों से सर्व कर्म विधान से।
मैं कर्म करता मूढ़-मानव मानता अभिमान से॥'

सचमुच, इस अनोखी प्रकृति की हर वस्तु अद्भुत एवं विलक्षण तो है ही, परन्तु मानव जिसे ईश्वर की उत्तम रचना कहा जाता है, सबसे अधिक विस्मयजनक है। इस मूढ़ मानव के निश्चय, सङ्कल्प-विकल्पों का प्रवाह तथा नाना प्रकार के परस्पर विरोधी कर्म सब-के-सब आश्चर्य में डालने वाले हैं! जिन कर्मों से यह अत्यन्त दुःखी होता है, उन्ही कर्मों को पुनः पुनः करने में विशेष रुचि दिखाता है। इस प्रकार अपनी

शोक एवं विषाद को दिन-प्रतिदिन बढ़ाता हुआ अपने जीवन को हर मिनट दूभर बनाता चला जा रहा है। मानव की इसी मूर्खता को दृष्टि में रखते हुए एक भारतीय कवि क्या ही अनोखे ढङ्गसे इस प्रकार व्यंग्य कसता है—

हँसी आती है मुझे हज़रत-ए इन्सान पर।
फेल-बद तो खुद करे लानत करे शैतान पर॥

इस कौतुकालय (Museum) संसार में एक बड़ी अनोखी एवं अद्भुत बात यह हो रही है कि सब प्रकार के छोटे-बड़े कर्म इस दैवी प्रकृति के गुणों के कारण से प्रत्येक स्थान में हो रहे थे, हो रहे हैं और सृष्टि के अन्त तक होते ही रहेंगे। किन्तु अज्ञानता में ग्रस्त मानव इन सारे कर्मों का उत्तरादित्व भयंकर भूल के कारण अपने पर ही डालकर दुःखों एवं चिन्ताओं के हिंडोलेमें बैठा-बैठा नीचे-ऊपर होता रहता है। आह! इस दैवी प्रकृति का यदि तनिक पैनी-दृष्टि से निरीक्षण किया जाये तो यह सत्य एवं रहस्य भली प्रकार अनुभव होने लगता है कि सूर्य, पवन, अग्नि, धरती, वरुण एवं अन्य देवताओं द्वारा अहर्निश नाना प्रकार की महत्वपूर्ण एवं अत्यन्त उपयोगी क्रियायें हो रही हैं नैसर्गिक रूप से, न कि अहङ्कार के आधार पर।

आह, इस रहस्य को कोई विरला ही माई का लाल और गुरु का बाल जानने में सफल होता है, शेष सब-के-सब आपा-धकी, आपा-धकी करते चले आ रहे हैं ! इसलिये दिन-प्रतिदिन उनका जीवन स्वचालित (Auto-Start) होने के स्थान पर 'धका-Start' बनता चला जाता है अर्थात् उनका समय निश्चिन्ततापूर्वक व्यतीत नहीं होता अपितु समय को जैसे-कैसे धकेला जाता है। इसका मुख्य कारण हमारे भगवान्‌जी इस श्लोक द्वारा स्पष्ट बतला रहे हैं कि मनुष्य का अपना ही चिरकाल-पालित 'अहङ्कार' है। अपनी ही भयानक भूल के कारण वह अपने-आपको कर्ता-भोक्ता समझता हुआ अपने जीवन को प्रतिक्षण बोझल बनाता चला जाता है। गीताध्यायी एवं अनुयायी जिज्ञासु साधक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक विषय हो जाता है कि वह भगवान्‌जी द्वारा बतलाई गई इस रहस्यमयी बात को किसी एकान्त रमणीय स्थान में बैठकर घण्टो गम्भीरतापूर्वक मनन करे, इसे भली प्रकार से हृदयङ्गम कर ले और यथामति एव यथाशक्ति अपने भीतरी अहङ्कार रूपी महान् वैरी को ज्ञान के अस्त्र-शस्त्र से हताहत कर दे, तब, केवलमात्र तब ही वह दिन दोगुनी एव रात चौगुनी उन्नति करता हुआ साधक से सिद्ध बनने में सफल मनोरथ हो सकेगा अन्यथा मालगाड़ी के कुछ-

एक डिब्बो एवं इञ्जन को भाँति स्टेशन से सिगनल और सिगनल से स्टेशन तक Shunting करता रहेगा। कहने का भाव यही है कि इस तरह वह यथार्थ रूप में पारमार्थिक उन्नति न कर पायेगा।

—फलतः—

भगवान्जो अपने सच्चे एवं निश्चयके पक्के जिज्ञासु को चेतावनो देते हुए बलपूर्वक शब्दो में अनुरोध कर रहे है कि वह इस तथ्य एवं रहस्य को समझता हुआ अहङ्कार से यथाशीघ्र सदा-सर्वदा के लिये मुक्ति प्राप्त कर ले।

एक भारतीय कवि इस सुन्दर भावको इस प्रकार प्रगट करता है।

जो कुछ किया, सो तुम किया, मैं कुछ किया नांहि।

—अतः—

सोचो, समझो और तदनुसार करके दिखा दो।

(४०)

"अन्धे आगे रोना, अपने नयन खोना।"

—**—

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥
गीता—३/२६

अर्थ—प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणों में और कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझने वाले मन्दबुद्धि अज्ञानियों को पूर्णतया जानने वाला ज्ञानी विचलित न करे।

प्रिय गीतापाठक !

प्रत्येक मनुष्य अपने पिछले जन्मों के शुभ एवं अशुभ संस्कारों को लेकर ही उत्पन्न हुआ है और ये नाना प्रकारके संस्कार ही हमारे हिन्दू-धर्ममें 'प्रारब्ध' के नाम से पुकारे जाते हैं। इसी पूर्व निश्चित एवं निर्धारित प्रारब्ध के अनुसार ही जीव को ऐसा घराना मिलता है जहाँ की परिस्थितियाँ एवं विभिन्न प्रकार की दशायें इस प्रकार की रची हुई होती है कि जहाँ वह जाकर अपने अरमानों को पूरा करने में सफल

मनोरथ होता है। केवल कारक पुरुष एवं अवतारी भगवान् ही पोची हुई पट्टी (तख्ती) की भाँति इस संसारमें पूर्ण, शुद्ध एवं विमल अन्तःकरण लेकर उत्पन्न होते हैं। परन्तु इसके विपरीत साधारण एवं सामान्य पुरुष नाना प्रकार की वासनाओं, इच्छाओ एवं ऐषणाओ की पूर्ति के लिये ही घर से बाहर निकलते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसे बहुसंख्या वाले मानव पूर्णरूपेण बहिर्मुखी हुए-हुए कञ्चन, कामिनी एवं कीर्ति के मानो क्रीतदास ही बने रहते हैं। इससे परे भी कुछ और जीव का उद्देश्य है, ऐसे कूप-मण्डूको को जाने बला! उनके तो जीवन का एकमात्र यही उद्देश्य होता है—

'Eat, drink and be merry.'

—अर्थात्—

खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ।

इनकी इस दुर्दशा का वर्णन हमारे एक भारतीय कवि ने क्या ही अनोखे ढङ्ग से किया है—

यह करता हूँ यह कर लिया, यह कल करूँगा मै।
इस फिकर-ओ इन्तजार में शाम-ओ सहर गई॥

दूसरी प्रकार के मानव वे होते हैं—जो सचमुच,

पुरुष रूप में देव-तुल्य हैं। इनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य योगाभ्यास करते हुए प्रभु-प्राप्ति होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे अहर्निश पुरुषार्थ करते रहते हैं। ऐसे नेक पुरुष दैवी-सम्पदा के गुणों से पूर्ण-रूपेण सम्पन्न होते हैं। इन्हीं बड़भागी जीवों को भगवान्‌जी उपदेश देते हुए वक्ष्यमाण हो रहे हैं—

'वे ही जन निर्बुद्ध हैं गुण कर्म में आसक्त जो।
बुद्धिवर विचलित करें ना पार्थ ऐसे मूढ़ को॥'

यदि इन प्रभु-भक्तों को अहङ्कारी पुरुषों में कुछ समय रहना भी पड़े तो, कमल के पत्ते की भाँति बिलकुल न्यारे बन कर रहेंगे। उनके मध्य में रहते हुए शास्त्र-विहित कर्मों को भली प्रकार करते रहैं परन्तु इन संसारी पुरुषो को निष्काम कर्मयोग का उपदेश मत दें अथवा भगवच्चर्चा किंवा योग की बातें तथा परलोक की चर्चा कदापि-कदापि न करें क्योंकि उनमे अभी रजोगुण की प्रबलता है। प्रथम बात तो यह है कि वे भगवत्-सम्बन्धी बातो की ओर ध्यान न देंगे। यदि देंगे तो उपेक्षा करते हुए ठठोली करेंगे। अतः भगवान् के भक्त को अपने जीवन को आदर्श बनाते हुए अनासक्त भाव से कर्मो को करते रहना चाहिये। कभी-न-कभी वे अवश्य इनके सराहनीय एवं अनुकरणीय

जीवन को देखते हुए अपने कुमार्ग को छोड़ कर इस अत्यन्त सुखदायी मार्ग को ग्रहण करेंगे। भगवान् के भक्तो को स्वयं तो दिन दोगुनी और रात चौगुनी पारलौकिक उन्नति करते ही रहना चाहिये, परन्तु सांसारिक कामनाओ, इच्छाओ एवं मोह-ममता में ग्रस्त मनुष्यों को धार्मिक बातें सुना कर दुविधा में डालना कदापि-कदापि उचित नही। इसी भाव को लेकर एक पंजाबी कवि कहता है—

वे तूं अपनी नबेड़ तैनूं होर नाल की,
गठरी अपनी सम्भाल तैनू चोर नाल की।
चैन ते आराम नाल बैठ जा निखुटिया,
जग दे झमेले विच मता जावें लुट्टिया।
तूं अन्दर बहके जप तैनूं शोर नाल की,
वे तूं अपनी नबेड़.......................॥

(४१)

* चिन्ता छोड़-चिन्तन कर *

—❀❀—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

गीता—३/३०

अर्थ—मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझ में अर्पण करके आशा-रहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर ।

प्रिय गीताध्यायी !

निःसन्देह, विश्वभर के समस्त धार्मिक शास्त्रों में एक गीता ही ऐसा उत्तम एव सर्वोपरि धार्मिक ग्रन्थ है जो मानव को खुशी-खुशी जीने की उत्तम कला सिखा कर उसके मुरझाये जीवन में एक दिव्य एवं अलौकिक सदा-बहार लाता है, जिससे मानवका जीवन अकथनीय खुशियों से भरपूर हो जाता है । उसके लिये दुःख, विषाद, चिन्ता, उद्विग्नता इत्यादि एक अतीत का स्वप्न बनकर रह जाता है । अब प्रश्न उठे बिना नहीं रहेगा कि वह कौन-सा ढङ्ग है जिसको पूर्णरूपेण अपना लेने से दुःखमय जीवन अविलम्ब सुखरूप में

परिणत हो जाता है ? इसका अति उपादेय उत्तर देते हुए हमारे परम हितैषी भगवान्‌जी कह रहे है कि सब प्रकार के कर्म अपनी आसक्ति एवं ममता को त्यागकर प्रभु-अर्पित बुद्धि से किये जायें। कहने का अभिप्राय यह है कि कर्मों में रञ्चकमात्र भी फलेच्छा न हो तथा कर्म केवल अपना कर्तव्य समझकर सम्पन्न करे। इस प्रकार कर्म करते हुए कर्मयोगी के मन में लाभ-हानि, सुख-दु.ख, मान-अपमान तथा जन्म-मरण आदि का रञ्चकमात्र भी भय न होगा। मन सदा प्रभु के पाद-पद्मों में भँवर के समान लगा रहेगा और किसी प्रकार का भी नया सस्कार अन्तःकरण पर अङ्कित न हो सकेगा। नये संस्कारो के न पड़ने से मन बिना विलम्ब के निर्मल होकर प्रभुके दिव्य-दर्शनों का भागी बन जायेगा।

इस उत्तम अवस्था में किसी भी ऐहिक प्राणी-पदार्थ को विश्वसनीय एवं अवलम्बनीय (Reliable & dependable) न समझता हुआ अब वह पूर्णतया अपने इष्टदेव भगवान्‌जी की शरण ग्रहण करेगा तथा चारो ओर से अपने-आपको इस प्रकार सुकेड़ लेगा जैसे कछुवा तनिक-सी आहट को सुनकर अपने अङ्गो को सुकेड़ कर निश्चिन्त हो जाता है। मन के इस

सराहनीय एवं अनुकरणीय उच्च स्तर में वह हमे अपने समाज में कर्मरत हुआ दिखाई तो देगा किन्तु जब भी देखो उसके चेहरे पर रौनक, प्रसन्नता एवं उल्लास रह-रह कर टपकता रहता है। विषाद का रञ्चकमात्र भी चिह्न उसके विशाल ललाट पर ढूँढे जाने पर भी दिखाई नहीं देता। सचमुच, निश्चिन्तता ! पूर्णरूपेण निश्चिन्तता !! इसी अवस्था में कर्मयोगी को कर्म, केवलमात्र कर्म करने में ही इतना आनन्द मिलता है जितना कि इन्द्र जी को इन्द्र-पदवी मिलने पर भी नहीं मिलता। उसका यह अलौकिक आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जाता है। बस यही है खुशी-खुशी जीने का श्रीगीताजी द्वारा बतलाया गया अनमोल ढङ्ग !

पूर्ण आशा है कि इस ग्रन्थ के पाठी यह ढङ्ग अपने जीवन में लाने की भरसक चेष्टा करेंगे किंवा कर रहे होंगे। निश्चिन्ततापूर्वक (Care-free) जीवन यापन करने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय न था और न होगा। अतः भगवान्‌जी के ये शिक्षाप्रद एवं चेतावनी भरे वचन हमें सदा याद रहेंगे—

युध्यस्व विगतज्वरः !

युध्यस्व विगतज्वरः !!

युध्यस्व विगतज्वरः !!!

(युद्ध कर अब मुझ पे अपने कर्मफल सब छोड़ कर।)

एक भारतीय कवि इन्हीं भावों को अपने शब्दोंमें इस प्रकार प्रगट करता है—

काम जो करना है हमको, फ़िकर हो उस काम की।
ख्वाइशें बेकार हैं तकलीफ की आराम की॥

—**—

★ गीता-गौरव ★

जिस प्रकार भूले और मोहित हुए अर्जुन को उस समय इस 'भगवान् के गीत' ने मार्ग दर्शाया, उसी प्रकार इस समय भूले-भटके और मोहित हुए जनों को भी यह गीता सच्चा मार्ग दर्शायेगी और मानवी उन्नति का पथ सब के लिये खुला कर देगी।

—**—

इस पुण्यभूमि आर्यावर्त होने वाले अन्यायों, अत्याचारो का समूल नाश करने के लिये और सनातन धर्म की भित्ति दृढ कर अधर्म का मूलोच्छेद करने के लिये भगवान् ने जो धार्मिक उपदेश दिया, वही श्रीमद्भगवद्गीता है।

—**—

(४२)

* श्रद्धामें चमत्कारिक शक्ति *

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

गीता—३/३१

अर्थ—जो कोई मनुष्य दोषदृष्टि से रहित और श्रद्धायुक्त हो कर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते है ।

—अर्थात्—

"जो दोष-बुद्धिविहीन मानव नित्य श्रद्धायुक्त हैं।
मेरे सुमत अनुसार कर के कर्म से नर मुक्त हैं ॥"

—❀❀—

प्रिय गीताज्ञान जिज्ञासु पाठक !

थोड़ा-सा भी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया जाये तो यह रहस्य रहस्य न रह कर एक सिद्धान्त प्रतीत होने लगता है कि मनुष्य का यथार्थ चित्र बाह्य आकृति एवं रूपरंग इत्यादि नहीं है अपितु उसमें स्थित निश्चय, विचार एवं भावनायें है । इसीलिये भगवान्‌जी ने भी कहा है—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'

गीता—१७/३

'जिसकी रहे जिस भांति श्रद्धा, वह उसी-सा नित्य है।'

अर्थात्— मानव विचारों का पुतला है। जैसे जिस के विचार होते हैं वह वैसा ही बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने संस्कारों के अनुसार किसी-न-किसी प्राणी-पदार्थ में अपने भविष्यको उज्ज्वल एवं सुखभरा बनाने के लिये श्रद्धा एवं विश्वास रखता है और इस प्रकार नाना प्रकार की आशाओं में अपने जीवन के दिन यापन करता चला जाता है। दुर्भाग्यवशात् यदि किसीकी श्रद्धा कहीं भी नहीं रहती तो वह बहुत शीघ्र अपने-आपसे ऊब कर आत्महत्या के लिये उतारू हो जाता है। सचमुच, श्रद्धाहीनता बड़ी भयानक अवस्था है!

भगवान्जी इस उपरोक्त श्लोक में कह रहे हैं कि जिस अहोभाग्यशाली मानव को इस गीताजी की अनमोल शिक्षा में अटूट एवं अविचल श्रद्धा है तो वह अपनी इस श्रद्धा के प्रताप से अपने अन्तःकरण को शीघ्रातिशीघ्र नाना प्रकारके दूषित एवं मलिन सस्कारो से रहित करते हुए बिल्लौर के शीशे के समान निर्मल एवं स्वच्छ बना लेता है। इसी अटूट श्रद्धा के फलस्वरूप वह दिन दोगुणी रात चौगुनी अपनी योगाभ्यास क्रिया मे बड़े उत्साह, चाव एवं लगनतापूर्वक जुटे रहता

है और कुछ ही समय में सब के लिये आश्चर्यजनक पारमर्थिक उन्नति कर दिखाता है। निःसन्देह, अविचल श्रद्धा (Unshakable faith) में बड़ी चमत्कारिक शक्ति है। २०वी शताब्दी के ज्ञानसम्राट् स्वामी रामतीर्थजी महाराज इसी विषय में अपने श्रीमुख से कहा करते थे—

Faith Works Miracle.

(श्रद्धा में बड़ी चमत्कारिक शक्ति छिपी रहती है।)

ऐसे उच्चकोटि के श्रद्धालु साधक कुछ ही समय में सिद्ध बन जाते हैं और इस प्रकार कृतकृत्य हो जाते हैं।

—फलतः—

हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज इस श्लोक द्वारा साधकों को यह कहते हुए सजग एवं सतर्क कर रहे हैं कि वे किसी भी जटिल, परिवर्तनीय एवं विचित्र दशा में प्रभु-प्रदत्त अपनी इस दिव्य, अलौकिक एवं देव-दुर्लभ श्रद्धाको लुटवा न बैठें अपितु ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे उनकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाये।

स्मरण रहे—

कार को भगानेके लिये जो कार्य पैट्रोल (Petrol)

करता है वही साधक को साधना को तीव्र-अति-तीव्र करने मे श्रद्धा एव विश्वास कर देता है। यदि श्रद्धा मन्द होगी तो साधना भी मन्द गति से चलेगी और यदि श्रद्धा तीव्र (Intense) होगी तो साधना भी द्रुत गति से होगी।

—अत.—

श्रद्धा को बढाने के लिये विशेष-अति-विशेष प्रयत्न करना चाहिये। श्रद्धा के प्रताप से ही मानव आवागमन के चक्कर से सदा-सर्वदा छूट कर अपने इष्टदेव भगवान् की सत्ता में तल्लीन हो जाता है। यह कहना कोई अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति न होगी कि—

* श्रद्धा से सद्गुरुदेव की प्राप्ति होती है,
* श्रद्धा से ही साधना होती है;
* श्रद्धा से संस्कार भस्मीभूत होते हैं;
* श्रद्धा से भवरोग सदा के लिये दूर होता है;
* श्रद्धा से ही अन्तःकरण निर्मल होता है;
* श्रद्धा से ही एकाग्रता प्राप्त होती है;
* श्रद्धा से ही जीव निर्विकल्प समाधि का अधिकारी बनता है, तथा
* श्रद्धा के प्रताप से ही जीव अपने इष्टदेव भगवान्‌जी के देवदुर्लभ दिव्य दर्शनों को प्राप्त कर के मुक्त हो जाता है।

*

(४३)

★ अश्रद्धालु सदा दुःखी ★

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥
गीता—३/३२

अर्थ—जो मनुष्य मुझ में दोषारोपण करते हुए मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते है, उन मूर्खों को तू सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित और नष्ट हुए ही समझ।

नूर-ए खुदा-ए कुफ्र की हरकत पे खन्दा-जन ।
फूँकों से यह चिराग बुझाया न जायेगा ॥

प्रिय गीता-पाठक !

मानव का यथार्थ चित्र (Real picture of a man) उसका विचारो से भरा हुआ मन, किंवा अन्तःकरण ही समझना चाहिये न कि शरीर की बाह्य आकृति। बाह्य-आकृति तो समय-समय अनुसार बदलती हो रहती है परन्तु आन्तरिक विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा, उद्वेग, विचार, भावनायें तथा नाना प्रकार की अन्य शुभ-अशुभ वृत्तियाँ एक साधारण एवं सामान्य मानव के मन में पवन को तरह तीव्र एवं मन्दगति से चलती ही रहती हैं। अतः मानव की यथार्थ परिभाषा उसकी श्रद्धा ही है। स्थूल रूप में श्रद्धा को

हम दो भागो में विभक्त कर सकते हैं। यथा—

(क) भगवान् सम्बन्धी श्रद्धा

(ख) जगत् सम्बन्धी श्रद्धा

कई जन्मों मे किये गये शुभ कर्म जब एक जन्म में उदय हो जाते है, तब, केवलमात्र तब ही मानव मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर भगवान्‌जी का प्यारा बनकर अपना जीवन सफल बना लेता है।

—परन्तु—

दुर्भाग्यवशात् जब मानव में अभी रजोगुण एवं तमोगुण मिश्रित संस्कारो की प्रबलता होती है तो वह भगवान् एव उनकी अत्यन्त कल्याणकारिणी एवं अमृत को लजाने वाली अति मधुर वाणी पर विश्वास एवं श्रद्धा न लाकर उनकी निन्दा ही करता रहता है। आह ! गुणो मे भी दोष निकाल-निकाल कर अपने लिये दुःखो एवं क्लेशो का सामान उत्पन्न करके ऐसा मन्दभागी मानव अपना ही इस निन्दनीय टेव के कारण अपने ही भविष्य को अन्धकारमय बना कर जीवन को दूभर बना लेता है। भगवान् जी की ऐसी निर्दोष एवं पतित-पावनी वाणी को भी निन्दते हुए ऐसे मूढ़ एव अज्ञानी मानव अपनी ही इस अशुभ आलोचना से समाज की बहुत हानि करते हुए पाप के

भागी बन जाते है। भगवान्के प्यारे को ऐसे प्राणियों की कुचालों एवं कु-आलोचनाओं को देखते एव सुनते हुए द्वेष तो नहीं करना चाहिये परन्तु अपनी भलाई को दृष्टि में रखते हुए इनसे यथा सम्भव दूर ही रहना चाहिये। महापुरुषों ने इस विषय में चेतावनी भी दी है—

'बुरे से है दूरी बुरे का इलाज'

स्मरण रहे—

अविचल एवं अडिग श्रद्धालु जहाँ अपनी श्रद्धा के प्रताप से इस विचित्र, अति विचित्र संसार को सुगमतापूर्वक पार कर लेता है वहाँ दूसरी ओर अश्रद्धालु, अविश्वासी एवं नास्तिक व्यक्ति अपनी ही अश्रद्धा, अविश्वास और शंका के कारण अपने ही लिये दुःखों की खाइयाँ खोदता हुआ न केवल इस लोक में अपितु परलोक में भी नष्ट होता रहता है।

—इसलिये—

भगवान्जीने श्रीगीताजी में कहा है—

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' गीता—४/३९

—विपरीत इसके—

'संशयात्मा विनश्यति' गीता—४/४०

—★★—

(४४)

★ हठ कब तक ! ★

—❀❀—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

गीता–३/३३

अर्थ—सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव के परवश हुए कर्म करते है । ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है । फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा !

प्रिय-गीता पाठक !

साधारण एवं सामान्य मनुष्य अपने संस्कारो सहित उत्पन्न होता है । समय पाकर वही सस्कार विचार बन जाते हैं । विचारों के अनुरूप ही कर्म होते हैं और कर्मो के अनुसार ही मानव का स्वभाव बनता है । जबतक पूर्व के सस्कार समाप्त नही होते तबतक उसके निश्चय, विचारो, भावो, कर्मों एवं स्वभाव मे रञ्चकमात्र भी परिवर्तन न आता है और न आ सकता है क्योंकि प्रकृति का यह अटल नियम है कि संस्कार भोगे बिना मिटते नही । अतः कोई भी मानव न स्वयं हठ से काम ले और न ही अपने स्वभाव को बदलने

मे किसी को बाध्य करे। इस विषय में आंगल भाषा में एक बड़ी उपयोगी एवं शिक्षाप्रद कहावत प्रसिद्ध है—

'Forced is never forcible.'

—अर्थात्—

जिस कार्य को आप किसी से हठपूर्वक करवायेंगे वह स्थाई एवं शक्तिमायी सिद्ध न होगा। प्रत्येक मानव को अपने-अपने स्वभावानुसार अपने कार्यों में जुटे रहना चाहिये। दूसरो के स्वभाव को देखकर अपने स्वभाव को बदलने का प्रयत्न निष्फल सिद्ध होगा। हो सकता है कि इस अनुकरण से अपना स्वाभाविक स्वभाव भी बिगड़-जाये और मानव अपने जीवन के दैनिक कर्मों मे ऊबकर अपनी प्रसन्नता को खो बैठे। इस विषय में हमारे भारत में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

'कागा चला हँस की चाल, अपनी भी खो बैठा'

अजी ! साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विचारवान, ज्ञानवान्, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक व्यक्ति एवं गण्य-मान्य पुरुष भी अपने स्वभावके अधीन देखे जाते हैं। मन-ही-मन समझते भी हैं कि उनका

यह स्वभाव शिष्ट नही है, अनुभव भी करते है, परन्तु संस्कारों के रह जानेके कारण उसे बदल नहीं सकते। अतः भगवान्जी इस विषय में शिक्षा देते हुए कह रहे है–

'निग्रहः किं करिष्यति'

क्यों हठ से काम लेते हो, तुम्हारा हठ वहाँ चलेगा नही। गम्भीर चिन्तन करने योग्य है भगवान्जी की यह चेतावनी–

बशर अपनी फितरत बदलता नहीं,
यहाँ जबर से काम चलता नहीं।

क्यो अपनी शान्तावस्था को विक्षेपता में डालते हो! किसी को बदलने का आपने ठेका तो नही ले रखा। लाख शुक्र मनाओ यदि आप अपने कुविचारों, कुभावनाओं एवं अश्लील तथा अभद्र स्वभाव को बदल सको तो! अरे बाबा, स्वभाव बदलना कोई बच्चों का खेल नहीं है! सचमुच, लोहे के चने चबाने के समान है। अपने पुत्र, पुत्रियों एवं पत्नी के साथ इस विषय में वाद-विवाद करते हुए क्यों अपना अनमोल समय व्यर्थ करते हो? आपके वाद–विवाद का कोई ठोस लाभ न हो सकेगा क्योंकि आपके सम्पर्क में आने वाले पोची हुई पट्टी (तख्ती) की तरह अन्तःकरण को

लेकर वहीं आये। वे तो आये हैं अपने अरमानों की दुनियाँ में पूरा करने के लिये ! क्यों व्यर्थ में बाधा बनते हो उनके अरमानों में ? भगवान्‌जी के इन शब्दों को लेकर आज के पश्चात् इस विषय में मन में विक्षेपता लाना सदा-सदा के लिये समाप्त कर दो। इन विचारों पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करो और मन में धारण कर लो—

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।'

-अर्थात्-

निग्रह करेगा क्या, प्रकृति अनुसार हैं प्राणी सभी ।'

—※※—

❀ गीता-गौरव ❀

गीता ग्रन्थ, वैदिक धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाओं में वेद के समान, आज करीब ढाई हजार वर्ष से सर्वमान्य और प्रमाणस्वरूप हो रहा है, इसका कारण भी उक्त ग्रन्थ का महत्त्व ही है।

श्रीमद्भगवद्‌गीता अमृत का वह महान् सिन्धु है, जिसकी एक बूंद में भी वह शक्ति है जो मनुष्य को इस क्षणभंगुर संसार का विस्मरण करा कर असीम आनन्द में निमग्न कर सकती है।

—※※—

(४५)

* राग-द्वेष से सावधान *

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

गीता–३/३४

अर्थ—इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ मे अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय मैं राग और द्वेष छिपे हुए हैं। मनुष्य को उन दोनो के वश में नही होना चाहिये, क्योकि वे दोनो ही इसके कल्याण मार्गमें विघ्न करने वाले महान शत्रु है।

प्रिय गीता-पाठक !

एक साधारण मनुष्य पिछले जन्म को अपनी इच्छाओ को पूरा करने के लिये ही संसार मे किन्हीं विशेष-विशेष वातावरणमें उत्पन्न होता है, जहाँ उसकी इष्ट इच्छायें पूरी हो सकती हो। सचमुच, मनुष्य वासनाओ, कामनाओं एव अधूरी इच्छाओ का पुतला है। जब तक हृदय की ये तीन गाँठे, यथा—

(क) अविद्या

(ख) काम

(ग) कर्म

—मानव खूब पुरुषार्थ द्वारा तोड़ नहीं देता, तब तक इन स्वनिर्मित एवं स्वरचित लौकिक ऐषणाओं से छूट ही नही सकता। छूटे भी भला कैसे! यह भोंदू मानव संसार के अनित्य, असत्य एवं दुःखदायी प्राणी-पदार्थों को नित्य, सत्य एवं सुखदृष्टिसे देखता जो रहता है। जब तक अज्ञानभरी दृष्टि छूटेगी नहीं, तब तक अनुकूल प्रतीत होने वाली वस्तुओ के साथ राग जमेगा, जमेगा ही और प्रतिकूल भासने वाली वस्तुओं के साथ द्वेष लगेगा, लगेगा ही। यही 'राग और द्वेष' (Attraction and repulsion) जीव को संसार के खूंटे के साथ कस कर बांधे हुए हैं और इसके चहुं ओर ही चक्कर काटता-काटता जीव अन्त में प्राणों का परित्याग कर देता है। गीता-रहस्यकार इस विषय में लिखते हैं कि ये 'राग-द्वेष' कल्याणमार्ग मे चलने वाले साधक से भेंट कर के मित्रता का भाव दिखला कर उसके मन और इन्द्रियो में प्रविष्ट हो जाते हैं और उसकी विवेक-शक्ति को नष्ट कर के तथा उसे सांसारिक विषय-भोगों के सुख का प्रलोभन दे कर पापाचार में प्रवृत्त कर देते हैं। इससे उसका साधनक्रम भ्रष्ट हो जाता है और पापों के फलस्वरूप उसे घोर नरको मे पड़कर भयानक दुःखो का उपभोग करना होता है।

हमारे परम हितैषी जगत्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज इस श्लोक द्वारा चेतावनी देते हुए वक्ष्यमाण होते है कि सांसारिक मनुष्य तो राग-द्वेष के अधीन रहेगा ही परन्तु सच्चे और निश्चय के पक्के साधक को इन दोनो 'राग और द्वेष' बटमारों से बहुत सतर्क एवं सजग होकर साधना करनी चाहिये। किसी भी ऐहिक प्राणी-पदार्थों के साथ भूल कर भी 'राग और द्वेष' न करना चाहिये।

—स्मरण रहे—

'राग और द्वेष' अपने स्वार्थ के कारण ही उत्पन्न होते हैं। सच्चा साधक वही कहा जाता है जो अपने स्वार्थ को पूर्णरूपेण त्यागकर मनसा-वाचा-कर्मणा एक हुआ-हुआ परमार्थके लिये भागीरथ प्रयत्न करे। इसके अतिरिक्त उसे बहुत तत्परता एवं सावधानी के साथ अधिक-से-अधिक समय एकान्त में रह कर गम्भीरता-पूर्वक मनन करते हुए अपने मन को समस्त नाम-रूपों से उपराम कर के निजात्मा में तल्लीन करने का यथा-सम्भव पुरुषार्थ करना चाहिये। इसी सतत ध्यानाभ्यास से ही जन्म-जन्मान्तरो से अन्तःकरण में स्थित ये राग-द्वेष की दोनों अशुभ वृत्तियाँ सदा-सदा के लिये भस्मी-भूत हो जायेंगी। तब, केवलमात्र तब ही साधक अपनी

साधना में उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ अपने गन्तव्य स्थान—आत्मसाक्षात्कार तक सुचारु रूप से बिना किसी विशेष विघ्न-बाधा के पहुँच सकेगा। अतः इन राग-द्वेष बटमारों से सावधान! सावधान!! सावधान!!!

जय भगवद् गीते!

—※※—

गीता-गौरव

गीताजी एक समुद्र है। इसके गूढ़ अर्थ को समझना मामूली बात नहीं है। जिस तरह समुन्द्र में गोता-खोर डुबकी लगा कर इसकी गहराई से मोती निकाल लाते हैं, उसी तरह से गीतारूपी समुन्द्र में भी गोता लगाने के बिना कुछ हाथ नहीं आता। इस के लिये श्रद्धा प्रयत्न और सतोगुणी बुद्धि की आवश्यकता है।

—※※—

"गीता में कर्म, भक्ति, ज्ञान—सभी विषयों का विशद रूप से विवेचन किया गया है, सभी मार्गों से चलने वालों को इसमें यथेष्ट सामग्री मिल सकती है।"

—※※—

(४६)

★ सबसे अच्छा अपना धर्म ★

—※※—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनम् श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

गीता—३/३५

अर्थ—अच्छी प्रकार आचरण में लाये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है।

प्रिय-गीता पाठक !

मानव संस्कारों का पुतला है। प्रत्येक जीव अपने साथ पिछले कई जन्मो के शुभाशुभ संस्कार लेकर ही उत्पन्न होता है। जो संस्कार अति तीव्र होते है, उन्हो को हमारा हिन्दू-धर्म प्रारब्ध के नाम से पुकारता है। ये प्रारब्ध के संस्कार बिना भोगे कभी भी समाप्त नहीं हो सकते। उन्हें तो अवश्यमेव भोगकर ही समाप्त किया जा सकता है। अतः प्रत्येक देहधारी अपने-अपने संस्कारो के अनुसार विचार करता है और विचारों के अनुरूप ही कर्म करने के लिये बाध्य है। यह कहना कोई कल्पना नही अपितु ठोस सत्य है। इस

विषय में भगवान्जी शुभ मन्त्रणा देते हुए समझा रहे हैं कि प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने स्वभावानुसार कर्मक्षेत्र में कार्य करते रहना चाहिये और किसी दूसरे प्राणी के स्वभाव का भले ही वह बाह्य रूप से शुभ एवं अपेक्षाकृत कल्याणकारी प्रतीत क्यों न हो, किसी भी दशा एवं परिस्थिति में अनुकरण कदापि-कदापि नहीं करना चाहिये।

स्मरण रहे—

कर्मों का अनुकरण करने से संस्कार तो बदले नहीं जा सकते और जबतक आभ्यान्तरिक संस्कार नहीं बदलते तबतक किसी भी कर्म को सुचारु रूप से करते रहना असम्भव है। अन्धानुकरण से होगा यह कि नया स्वभाव तो बनाया न जा सकेगा उल्टे में, अपने स्वभाव के साथ भी रुचि न रहेगी। ऐसी विचित्र दशा में उनके लिये जीवन बोझल, नीरस एवं असुखकर बनकर रह जायेगा। इस विषय में लोकोक्ति है ही—

कागा चला हंस की चाल,
अपनी भी खो बैठा।

—फलतः—

हमें अपने संस्कारों अनुसार ही कर्म करते हुए

अन्तःकरण को निर्मल करने की भरसक चेष्टा करते हुए आजीवन अपने स्वभाव में ही डटे रहना चाहिये। भगवान्‌जी ने प्रत्येक मानव को उन्हीं के संस्कारों अनुसार विभिन्न-विभिन्न परिस्थितियों में रखा हुआ है जहाँ रहकर वह अपने संस्कारों को समाप्त कर सकता है।

—अतः—

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान में उत्तम माना जाता है। यह भाव दिखलाने के लिये महापुरुष दृष्टान्त देते हैं कि जैसे देखने में कुरूप और गुणहीन होने पर भी स्त्री के लिये अपने पति का सेवन करना ही कल्याण-प्रद है, उसी प्रकार देखने में सद्गुणों से हीन होने पर भी तथा अनुष्ठान में अङ्गवैगुण्य हो जाने पर भी जिस के लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याण-प्रद है फिर जो स्वधर्म सर्वगुणसम्पन्न है और जिसका साङ्गोपाङ्ग पालन किया जाता है, उसके विषय में तो कहना ही क्या है! जीव का स्वधर्म पालन करने में ही कल्याण है क्योंकि इसमें च्युत होने का भय नहीं रहता। कहा भी जाता है—

जो सुख अपने छुबारे, वह बलख न बुखारे।

(East or west—Home is the best.)

भगवान्‌जी की यह उपयोगी चेतावनी सदा स्मरणीय है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।

—अर्थात्—

'अपने धर्म में मृत्यु श्रेष्ठ है,
पराया धर्म भयकारक है ।'

अनुभवी महापुरुष हमें सजग एवं सतर्क करते हुए वक्ष्यमाण होते हैं कि नक्ल के लिये भी अक्ल चाहिये ।

अतः सावधान !
सावधान !!
सावधान !!!

★ गीता-गौरव ★

"गीता पर जितना मनन और विचार किया जाये कम है । गीता के अनेक भाष्य हो जाने पर भी नये-नये भाष्य होते रहेंगे । गीता वह महासागर है जिसमें से अनेक आबदार मोती निकले हैं, निकल रहे हैं और निकलते रहेंगे । युग-युग में नित्य नया ज्ञान देखकर भी इसके ज्ञान की कहीं इति भी नहीं होगी ।'

(४७)

* पाप का कारण *

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
गीता—३/३७

अर्थ—रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघाने वाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषय में वैरी जान ।

प्रिय विचारशील गीतानुयायी पाठक !

किसी भी स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने वाले साधक के मननशील मन में यह प्रश्न उठे बिना रहता नहीं कि इस विराट संसार में जो इतने जघन्य एवं अत्यन्त निन्दनीय पाप हो रहे हैं, इन सबका मुख्य कारण क्या है ? हमारे घट-घटवासी सर्वज्ञाता भगवान्जी इस सम्भावित प्रश्नका उत्तर श्री गीताजीके उपरोक्त तीसरे अध्याय के ३७वे श्लोकमें बड़े विस्तारपूर्वक इस प्रकार दे रहे हैं—

जब एक साधारण एवं सामान्य मानवमें रजोगुण की मात्रा अति अधिक हो जाती है, इसी के फलस्वरूप

उसमें इस संसार-सम्बन्धी नाना प्रकारकी दूषित वासनायें, एषणायें, इच्छायें एवं कामनायें सागर में ज्वार-भाटे की न्याईं उमड़ने-घुमड़ने लगती है, और उसके अन्तःकरणमें एक विशेष प्रकार की हलचल मचा देती हैं। ऐसे मन्दभागी मानव का एकमात्र उद्देश्य संसारकी लुभाने वाली नाना प्रकार की वस्तुओं एवं प्राणियों को प्राप्त करना ही रह जाता है, क्योंकि उसके मन में यह अशुद्ध एवं मिथ्या धारणा अज्ञानता के कारण समा जाती है कि जबतक अमुक-अमुक प्राणी-पदार्थ प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक स्थायी शान्ति कभी भी प्राप्त न हो पायेगी। यही भ्रमित धारणा उस बेचारे को अहर्निश अशान्त बनाये रखती है। उसके मुख से तो हर समय यही ध्वनि सुनाई देती है—

'यह करता हूँ यह कर लिया यह कल करूँगा मैं।
इस फ़िक्र-ओ इन्तजार में शाम-ओ सहर गई॥'

यही बढ़े हुए मनोविकार (Negative qualities) एवं कामनायें जीव को नाना प्रकार के कुकर्म करने के लिये बाध्य कर देती हैं और यह जीव बेचारा न चाहने पर भी ऐसे अश्लील, अभद्र एवं अमाननीय दूषित कर्मों में अपने-आपको झोंक देता है या यों कह दीजिये कि अशुभ कर्म करने के लिये उतारू हो जाता है। कारण

यह कि ऐसी दुर्दशा में उसकी बुद्धि का निर्णय तथा मनके विचार पूर्णरीत्या दूषित बन चुके होते हैं। भारतीय मनोविज्ञान यह कब की घोषणा कर रहा है कि यदि मानव की धारणा दूषित हो गई तो विचार भी अवश्य दूषित होंगे और विचारोंके दूषित होनेपर कर्मों में अभद्रता का प्रगट होना स्वाभाविक है। इस विचित्र २०वी शताब्दी में बहुसंख्यक व्यक्ति बहिर्मुखी हो चुके है अर्थात् उनका रग-रग एवं रेशा-रेशा भौतिकता में ओत-प्रोत हो गया है। सचमुच, आज का मानव नख-शिख (From head to toe) भौतिकवादी बन चुका है। इन पाँचभूतो से निर्मित संसार से भिन्न भी कुछ विशेष सत्ता है, यह जाने उसको बला !

—अतः—

भौतिकता में मानव से कौन-कौन-सा ऐसा भयानक पाप (Blunder) है जो न हो गुजरता हो। जबतक ठोकर-पर-ठोकर खाता हुआ यह मानव अन्तःकरण में स्थित अपनी अज्ञानता की धज्जियां न उड़ा देगा, तब तक यह पापो से उपराम हो ही नहीं सकता।

-क्योंकि-

अज्ञानता से ही रजोगुण बढता है और रजोगुण के बढते ही नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगते

हैं और इन विकारों को उथल-पुथल के कारण से ही नाना प्रकार के कुकर्म होने लगते हैं। अन्ततः मानव मानव न रह कर, सचमुच दानव बन जाता है। कुछ समय पा कर यही मानव मानव रूप में दानव एवं पक्का अत्याचारी, कदाचारी, भ्रष्टाचारी एवं दुराचारी बन जाये तो कोई आश्चर्य की बात न होगी।

यह कहावत प्रसिद्ध ही है—

'यथा बीज तथा खेती।'

अतः किसी भी कल्याणकामी जीवको भली प्रकार जान लेना चाहिये कि रजोगुण से उत्पन्न यह 'काम' ही हमारा महान् शत्रु है।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

—※※—

❀ गीता—गौरव ❀

"गीता निस्तेज, शिथिल और बोझल कर्म को प्रेम और सेवा में बदल कर हल्का कर देती है, उसे प्रसाद, सामर्थ्य और महाभाव से भर देती है—जीवन की ज्योति से उसे भर देती है। गीता को पढ़ कर हृदय उछल पड़ता है, मनुष्य जीवन बदल जाता है, दुनियां बदल जाती है।"

(४८)
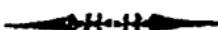
* आत्मा—आवरण में *

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

गीता—३/३८

अर्थ—जिस प्रकार धूयें से अग्नि और मैल से दर्पण ढका रहता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है ।

—※※—

भीखा भूखा कोई नहीं, सब की गठड़ी लाल ।
गाँठ खोल जानत नहीं, ता विध भये कङ्गाल ॥

प्रिय गीता पाठक !

सचमुच, मनुष्य की यथार्थ सत्ता (essential nature) अविनाशी आत्मा ही है । उसी आत्मा के फलस्वरूप बुद्धि, मन एवं शरीर अपने-अपने निर्धारित कार्य अबाध गति से निरन्तर कर रहे हैं । परन्तु भौंदू मानव अज्ञानता से उत्पन्न हुई-हुई नाना प्रकार की कामनाओं एव वासनाओंके कारण उस सत्, चित्त एवं आनन्दस्वरूप अपनी ही आत्मा से बहुत-बहुत दूर

भागता चला जा रहा है। आश्चर्य तो यह है कि आत्मा है तो इसके निकटतम परन्तु कामनाओंने इसे दूर अति दूर कर दिया है और कवि के शब्दों अनुसार दुर्दशा यह हुई पड़ी है कि—

बेघर हुए बैठे हैं, अपने घर के सामने।

हमारे जगद्गुरु, अत्यन्त दयालु-कृपालु भगवान्‌जी ने आत्मा पर पड़े हुए इन आवरणों को सुबोध एवं सुस्पष्ट करने के लिये तीन सरल दृष्टान्तों द्वारा इस गुह्यतर रहस्यको सुग्राह्य कर दिया है। कितना उत्तम प्रथम दृष्टान्त दिया है धुंये और अग्नि का ! अग्नि देवता को प्रगट करने के लिये जैसे कुछ लकड़ियों को एक ही स्थान पर एकत्रित कर के आग लगाई जाती है तब सर्वप्रथम धूंआ निकलने लगता है और क्षण-क्षण धूंआ बढ़ता जाता है। इतना बढ़ जाता है कि वह अग्नि को ढांप लेता है। उस समय चारों ओर धूंआ-ही-धूंआ दिखाई देता है, अग्नि जलती हुई भी प्रतीत नही होती।

दूसरा दृष्टान्त भगवान्‌जो ने दर्पण (Mirror) का दिया है। दर्पण को बड़ी टुकड़ो यदि बिना ढांपे एक स्थान पर पड़ो हो तो उस पर चहुँ ओर की उड़ती हुई धूलो पड़ती रहती है। धूली-पर-धूली पड़ने से वह

इतनी सघवी हो जाती है कि किसी भी प्राणी का उसमें प्रतिविम्ब दिखाई नही देता!

तीसरा दृष्टान्त भगवान्‌जी ने माता के उदर में गर्भ का दिया है। जैसे शिशु गर्भ के भीतर झिल्ली में लिपटा हुआ होता है और झिल्ली मे लिपटे होने के कारण वह दिखाई नही देता।

—बिलकुल इसी प्रकार—

भगवान्‌जी स्पष्ट कर रहे हैं कि चेतन सत्ता आत्मा है तो प्रत्येक प्राणीके अन्तःकरणमे; परन्तु मल, विक्षेप एवं आवरण के दोषों के कारण एक साधारण एवं सामान्य व्यक्ति को अनुभव नही होती। जैसे धूयें से अग्नि, धूली से दर्पण तथा गर्भ से बच्चा छिप जाता है इसी प्रकार आत्मा मानव के मन से उत्पन्न होने वाली ऐषणाओ, वासनाओ, कामनाओ तथा नाना प्रकार की इच्छाओ के कारण छिपी रहती है और जीव वेचारा बहिर्मुखी हुआ-हुआ राग-द्वेषके कारण अपने जीवनको ज्वार-भाटे की नाईं उथल-पुथल में डाले रहता है। क्या मजाल जो एक क्षण भी सुख को सांस ले सके! भटक-भटक कर, अटक-अटक कर और लटक-लटककर अपने जीवन के अनमोल दिन एवं अनमोल श्वासो रूपी रत्नो को इन्ही व्यर्थ की कामनाओं में लुटाता हुआ इस

नश्वर संसार से खाली हाथ चल देता है। जिन कामनाओं एवं इच्छाओं की पूर्ति से दुःख भी पाता रहा, फिर भी अवशेष जीवन उन्हीं में ही लगाता रहा। कितनी विडम्बना है यह! कहा भी जाता है—

आ के जाता रहा, जा के आता रहा,
यूँ ही चक्कर चौरासी के खाता रहा।
इसी आवागमन के उलट फेर में,
वक्त हीरा यह हाथों से जाता रहा॥

कोई विरला, सचमुच, बहुत ही विरला अहोभाग्यशाली मानव इन वासनाओं से सदा-सदा के लिये छुट्टी पा कर तथा मल, विक्षेप और आवरण की उच्चकोटिके ज्ञान द्वारा धज्जियाँ उड़ाता हुआ अपनी यथार्थ सत्ता सत्, चित् एवं आनन्दमयी अवस्था में तल्लीन हो कर कृतकृत्य हो जाता है। प्रिय गीतानुयायी पाठक! क्या आप अपना शुभ नाम इन विरलों में अङ्कित करवायेंगे?

सोचो, समझो और करो।

जय भगवत् गीते!

रहस्य से अवगत करवा रहे है कि कामनाओं को पूरा करने से कामनाये कभी भी पूरी नही होती अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। उदाहरणार्थ जैसे प्रज्वलित अग्नि पर घी और ईंधन डालने से अग्नि देवता पहले की अपेक्षा और भी अधिक तीव्रतर हो जाता है ऐसे ही कामनाओ की पूर्ति करने से कामनाये और भी अधिक बढ़ जाती है। अग्नि में और ईंधन न डालने से जिस प्रकार अग्नि स्वयं ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार यदि कामनाओं से सदा-सदा के लिये छुट्टी पाना अभीष्ट हो तो 'अनित्यम् असुखम्' के मूलमन्त्र से इन सांसारिक कामनाओ को सदा-सदा के लिये भस्मीभूत कर देना चाहिये। अतः सिद्ध हुआ कि कामनाओ की पूर्ति कामनाओ को पूरा करने से नही हो सकती अपितु विवेक-विराग का आश्रय लेकर ही इन्हें नष्ट किया जा सकता है। अतः भगवान् जी अपने प्यारे भक्त को चेतावनी देते हुए समझा बुझा रहे हैं—

है सब ज्ञान वालों की दुश्मन हवस,
यह पीछा न छोड़ेगी राहजन हवस।
हवस आग ऐसी है कुन्ती के लाल,
कि इस आग का सेर होना मुहाल॥

जय भगवत् गीते!

(५०)

★ इन्द्रिय विजयी—सर्व-विजयी ★

—※※—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

गीता—३/४१

-अर्थ-

इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान् पापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ।

-अर्थात्-

इन्द्रिय-दमन करके फिर नाश शत्रु महान् का ।
पापी सदा यह नाशकारी ज्ञान का विज्ञान का ॥

—※※—

ऐ गीता पाठक !

आह, कितनी भिन्नता है इस अद्भुत एवं विचित्र संसार में ! नाना प्रकार के प्राणी-पदार्थों से यह संसार भरपूर है । इनकी आकृतियाँ, भावनायें, विचार, कर्म और तज्जनित स्वभाव की भिन्नता का भी कोई अन्त ही नहीं । इन प्राणियों की अज्ञानता किंवा यथार्थता को न जानने के कारण किसी को कोई वस्तु

अच्छी लगती है तो किसी को कोई। एक ही वस्तु एक के लिये रुचिकर होती है तो दूसरे के लिये अरुचिकर। एक ही वस्तु एक के अनुकूल है तो दूसरे के वही प्रतिकूल। एक के लिये एक वस्तु प्रिय है तो दूसरे के लिये अप्रिय। वाह रे सृष्टि बनाने वाले करतार, अद्भुत है तेरी सृष्टि! कोई अन्त नहीं इसकी विलक्षणता का! जो वस्तु जिसको अनुकूल और प्रिय लगती है वह उस पर लट्टू हो जाता है अर्थात् बुरी तरह राग में उलझ जाता है। विपरीत इसके जो वस्तु इसकी धारणा के प्रतिकूल प्रतीत होती है उसके साथ सदा के लिये द्वेष ठान लेता है। यह राग-द्वेष का अति विचित्र चक्र उसके जीवन को नाना प्रकार के दुःखो एव क्लेशो के गढे में डालने के लिये आरम्भ हो जाता है। मानव की धोखेबाज इन्द्रियाँ नाना प्रकार के प्राणी-पदार्थों को सत्य एवं सुखदायी समझ कर इन्हें प्राप्त करनेके लिये जीवनभर लालायित बनी रहती है। इनकी केवल इतनी ही रटन लगी रहती है कि अमुक-अमुक आकर्षक प्राणी-पदार्थ तो मिल गये परन्तु अमुक-अमुक लुब्धक प्राणी-पदार्थ भी प्राप्त हो जाते तो कितना अच्छा होता! भोले मानव को ये इन्द्रियाँ नाना प्रकार के इन्हीं ऐहिक प्राणी-पदार्थों में ही उलझाये एवं तड़पाये रखती हैं। घोर परिश्रम

करने के पश्चात् यदि अनेक इष्ट प्राणी-पदार्थों में से कुछ मिल भी जाते हैं तो भी पूर्ण मानसिक सन्तुष्टि एवं परितुष्टि नहीं होती जिसके फलस्वरूप मन सदा बेचैन एवं विक्षिप्त अवस्था में उद्विग्न होते हुए हताश, उदास एवं निराश ही बना रहता है। हमारे परम हितैषी जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज उपरोक्त श्लोक द्वारा अपने प्रिय भक्त एवं बड़भागी साधक को चेतावनी दे रहे हैं कि इन्द्रियों-सम्बन्धी इन नाना प्रकार के विषयों की चाहना को ज्ञान की तीव्र खड्ग से शीघ्रातिशीघ्र काटकर आत्मानुसन्धान में जुट जाना चाहिये, अन्यथा वह अनमोल जन्म व्यर्थ, सचमुच बिलकुल जन्म व्यर्थ सिद्ध होगा! अतः इन्द्रियों के विषयों से सावधान! सावधान!! सावधान!!!

परमपूज्य ज्ञानसम्राट् 'स्वामी राम' इन्द्रियों के विषयों से सचेत करते हुए कितने मार्मिक शब्दों में कह रहे हैं—

इन्द्रियों के घोड़े छूटे,
बाग डोरी तोड़ कर।
वह मरा, वह गिर पड़ा,
असवार सिर मुँह फोड़कर॥
ताजी तौसन तुन्दखू,
पर दस्त-ओ पा जकड़े करे।

ले उड़ा घोड़ा मिजप्पा,
जान के लाले पड़े ॥
जाने मन ! आजाद करना,
चाहते हो गर आपको ।
कर रहे आजाद क्यों हो,
आस्तीं के सांप को ?
हां वह है आजाद जो,
कादिर है दिल पर जिस्म पर ।
जिसका मन काबू में है,
कुदरत है शक्ल-ओ इस्म पर ॥
ज्ञान से मिलती है आजादी,
यह राहत सर बसर ।
वार कर फेंकूं मैं उस पर,
दो जहां का माल-ओ जर ॥

—॥—

❀ गीता-गौरव ❀

"जीव किस प्रकार ऐश्वर्यवान्, मतिमान्, धीमान् और सर्वथा सुयोग्य हो कर विनम्रतापूर्वक गुरुजनों का आदर-सत्कार करता हुआ सच्चे ज्ञानकी उपलब्धि कर सकता है, यह दरसाना ही गीता का अभिप्राय है ।"

—॥—

(५१)

★ साधक का महावैरी–काम ★

—※※—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुम् महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

गीता—३/४३

अर्थ—इस प्रकार बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाल ।

—अर्थात्—

'यों बुद्धि से आत्मा परे है जान इसके ज्ञान को ।
मन वश करके जीत दुर्जय काम शत्रु महान् को ॥'

प्रिय गीता-पाठक !

इतनी मुख्य बात तो आपकी समझ में बैठ ही गई होगी कि परमात्मा का निवास स्थान आपका अपना ही अन्तःकरण है । जैसा कि भगवान् जी ने स्वयं ही श्रीगीताजी में इस रहस्य को इस प्रकार प्रगट किया है—

'अहम् आत्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः ।'

गीता–१०/२०

(हे अर्जुन ! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ ।)

अब प्रश्न उठता है कि सच्चिदानन्द भगवान् यदि हमारे ही अन्तःकरण में विराजमान् हैं तो ध्यान अव-स्थित-स्थिति में अनुभव क्यों नहीं होते ? फिर मन उनके चिन्तन एवं अभ्यास में तल्लीन क्यों नहीं हो जाता ? सर्वशक्तिमान् प्रभु के उपस्थित होते हुए भी मन क्यों इतस्ततः वानर की नाईं व्यर्थ में दौड़ता, भागता एवं अनर्गल सङ्कल्प-विकल्प करता रहता है ! इस सम्बन्धी नाना प्रकार के अन्य प्रश्नों का एक ही उत्तर इस तीसरे अध्याय के ४३वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में देते हुए हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज वक्ष्यमाण होते हैं कि मानव की अपनी ही न समाप्त होने वाली नाना प्रकार की वासनायें और कामनायें, एषणायें तथा इच्छायें ही इसमें मुख्यरूप से बाधक एवं प्रतिबन्धक हैं । यदि मानव उच्चकोटि के ज्ञान को प्राप्त करके स्वनिर्मित, विचित्र एवं अद्भुत भूल-भुलैयों में डालने वाली इस अज्ञानता का सदा-सदा के लिये उन्मूलन कर डाले, तो वह बिना विलम्ब श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की मञ्जिलों को तय करता हुआ आत्मानुभव करने में सफल मनोरथ हो सकता है । प्रश्न फिर उठे बिना नहीं रहता कि ज्ञान

की प्राप्ति हो तो कैसे ? श्रीगीताजी के माध्यम से इस का उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण समझाते हैं कि सर्वप्रथम मनुष्य को यह अनिवार्य रूप से जान लेना चाहिये—

(क) यथार्थ रूप में मैं कौन हूँ ?

(ख) यह प्रकृति क्या है ?

(ग) मेरा और प्रकृति का परमात्मा के साथ क्या सम्बन्ध है ?

इन तीनों क्रान्तिकारी प्रश्नों का अनुभूत उत्तर पाने के लिये साधक को अनिवार्य एवं अपरिहार्य रूप अपने समय के किसी उच्चकोटि के ब्रह्मनिष्ठ एवं श्रोत्रिय ब्रह्मज्ञानी के पास बड़े ही आदरमान, विनम्रता एवं निष्ठापूर्वक जाना चाहिये और उनकी पूर्ण उत्साह एवं मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर प्राणपणमें निरन्तर लम्बे समय तक सेवा करते हुए उन्हें प्रसन्न कर लेना चाहिये और अवसर देखकर अपने कल्याण के लिये जिज्ञासु के रूप में प्रश्न करने चाहिये। अनुभवी महापुरुष बहुत प्रसन्न होकर उसको समस्त शङ्काओं का समाधान करते हुए उसे उच्चकोटि का ज्ञान प्रदान करेंगे। इसी देव-दुर्लभ ज्ञान की प्राप्त करके वह अज्ञानता का उन्मूलन कर सकेगा। अज्ञानता भस्मीभूत

हो जाने के पश्चात् तब उसकी समस्त प्रकार की वास-नायें, एषणायें एवं कामनाये उसके अन्तःकरण को सदा के लिये त्यागकर चली जायेंगी। तब केवलमात्र तब ही इस महावैरी—'काम' से छुटकारा पाता हुआ साधक पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी हो सकेगा। अतः ज्ञान-प्राप्ति के लिये साधक को उत्कट एवं तीव्रतम इच्छा बना लेनी चाहिये। याद रहे—

चाह चूड़ी, चम्हारनी, अति नीचन की नीच।
तू तो पूर्ण ब्रह्म था, जो चाह न होती बीच॥

—**—

सोचो, समझो और अपनाने के लिये शीघ्रातिशीघ्र कटिबद्ध हो जाओ !

—**—

* गीता-गौरव *

"गीता वह तैलशून्य दीपक है जो अनन्त काल तक हमारे ज्ञान-मन्दिर में प्रकाश करता रहेगा। पाश्चात्य धार्मिक ग्रन्थ भले ही खूब चमकें, किन्तु हमारे इस लघु जीवन का प्रकाश उन सबसे अधिक चमक कर उन्हें ग्रस लेगा।"
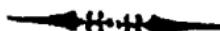
(५२)

* भगवान् का अवतार *

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

गीता—४/७

—अर्थ—

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकाररूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ।

प्रिय ज्ञानेप्सु साधक!

जिस दयालु-कृपालु भगवान् ने इस विचित्र एवं अद्भुत सृष्टि की रचना की, उन्होंने इसे न केवल सुव्यवस्थित रूप से रचा है अपितु किन्हीं अटल नियमों के आधार पर स्थित भी कर रखा है। उन नियमों के अनुसार जो अपना जीवन यापन करते हैं वे तो अपनी जीवन अवधि में पूर्ण सुख शान्ति का एक अनुकरणीय आदर्श छोड़ जाते हैं। विपरीत इसके जिन मन्दभागी मनुष्यों में रजोगुण एवं तमोगुण की अधिकता होती है वह स्पष्टरूप से भगवान्‌जी के शान्तिदायक नियमों का उल्लङ्घन करते हुए सारे-का-सारा वातावरण दूषित,

कलुषित एवं अप्रिय बना देते है। यहाँ तक कि अन्य भद्रपुरुषो के लिये जीवित रहना भी दूभर हो जाता है और वे सब-के-सब अपने इष्टदेव सृष्टिकर्ता भगवान्‌जीके पादपद्मो मे हार्दिक एवं मार्मिक शब्दों तथा भावों में भर कर ऐसी दूषित परिस्थितियो से त्राण पानेके लिये प्रार्थना करने लगते हैं। चहुँ ओर 'पाहिमाम्' 'रक्षमाम्' की हृदय भेदी आवाजें आने लगती हैं। भगवान्‌जी के अटल नियमो मे यह एक बड़ा अनिवार्य एवं अपरिहार्य दैवी नियम है कि—

हम भक्तन के भक्त हमारे।

सुन अर्जुन परतिग्या मोरी, यह व्रत टरत न टारे।'

इस कल्याणकारी नियम के अनुसार भगवान्‌जी अपने द्वारा रचित जन-कल्याण के नियमों का बोल-बाला करने हेतु अवतार लेनेके लिये बाध्य हो जाते हैं और अपने इस दिव्य जन्म एवं कर्मों द्वारा—

(क) धर्म की पुन. स्थापना करते हैं,

(ख) धर्म के शत्रुओं, रिपुओं, अत्याचारियों, दुष्टों एवं दुराचारियों का बात-ही-बात में संहार करते हुए अधर्म को धूलि-धूसरित कर देते हैं;

(ग) अपने भक्तों एवं प्रेमियों की रक्षा करते हैं।

भगवान्‌जी के अवतार से प्रकृति का चीतकार एवं दर्दभरा कोलाहल बन्द हो जाता है तथा इस दैवी प्रकृतिमें पुनः सुखदायिनी बहार आ जाती है। अवतार के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का प्यारा बनता हुआ अपने अनमोल जीवन को सफल बनाने लगता है। मानवता एक बार पुनः खिलखिलाने एवं पनपने लगती है। प्रत्येक प्राणी-पदार्थ में एक नया जीवन सचारित होने लगता है और अनेक मुख से एक ही स्वर में अब यह सुभाषित स्पष्ट सुनाई देने लगता है—

'सत्यमेव जयते नानृतम्'

—अर्थात—

(क) सच्चाई छिप नहीं सकती,
बनावट के असूलों से।
कि खुशबू आ नहीं सकती;
कभी कागज़ के फूलों से॥

(ख) जब-जब होता नाश धर्म का,
और पाप बढ़ जाता है।
तब लेते अवतार प्रभु,
फिर विश्व शान्ति पाता है॥

(५३)

* विकार रहित—प्रभु सहित *

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

गीता—४/१०

अर्थ :—जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तप से पवित्र हो कर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके है।

-अर्थात्-

'मन्मय ममाश्रित जन हुए भय क्रोध राग विहीन हैं।
तप पद्म से हो शुद्ध वह मुझ में हुए लवलीन हैं॥'

प्रिय गीतानुयायी जिज्ञासु साधक !

सचमुच, अन्तःकरण में रहने वाले इन नाना प्रकार के विकारो ने ही मानव को लख से कख बना दिया है। ये विकार मानव में अज्ञानता के कारण ही टिकते हैं। अज्ञानता के वशीभूत हुआ-हुआ यह भोला मानव संसार के नाना प्रकार के प्राणी-पदार्थों को ही अपने सुख एवं शान्ति का एकमात्र कारण समझने

लगता है और इन्हीं को प्राप्त करने में वह दिन-रात एड़ी-चोटी का जोर लगाता हुआ खूब पुरुषार्थ करता रहता है। जो पदार्थ प्राप्त हो चुके हैं उनके साथ इसकी पक्की एवं सुदृढ़ आसक्ति हो जाती है। यदि प्राप्त प्राणी-पदार्थों को हानि पहुँचने की रञ्चकमात्र भी कहीं सम्भावना प्रतीत हो तो इस विचारहीन मानव के मन में भयवृत्ति का कोलाहल मच जाता है। यथा—

'हाय क्या होगा ! हाय क्या होगा !!
आह, कहीं ऐसा न हो जाये !!!'

इन्हीं भयसूचक भावों को ही बारम्बार अनजाने रूप में आज का विचित्र एवं कौतुकी मानव निकालता हुआ दुःखी होता रहता है। मानव को प्राकृतिक एवं यथार्थ भय तो कई वर्षों के बाद एक बार ही आता होगा परन्तु सम्भावित एवं मनोकल्पित भयवृत्ति आज के पठित मूर्ख मानव को तोड़-तोड़ कर खा रही है। अतः इसकी आन्तरिक दुर्दशा को देख कर हमें यह कहना ही पड़ेगा कि जितनी आसक्ति उतना भय, जितना भय उतनी विक्षेपता और जितनी विक्षेपता उतना ही दुःख।

यदि इष्ट (Desired) प्राणी-पदार्थों की प्राप्ति में कोई बाधा बनता हुआ दिखाई देने लगता है तो उसके

साथ आज का यह कौतुकी मानव वैर ठान लेता है तथा उसके प्रति बारम्बार क्रोध की वृत्ति सागर में ज्वार-भाटा की नाईं उठने-बैठने (Up and down) लगती है और इसके स्थिर मन को दिन में एक नहीं अनेक बार बुरी तरह से झटका एवं झकझोर देती है। क्रोधके बारम्बार के आवेग से इसका स्वभाव बहुत ही विकृष्ट एव सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के लिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होता है तथा समय पा कर यही क्रोध की चाण्डाल वृत्ति किसी असाध्य रोग में परिणत हो जाती है और बेचारे मानव को आजीवन लेवें के देने पड़ जाते हैं।

—परन्तु—

भगवान्‌जी उपरोक्त श्लोक मे अपने अत्यन्त प्रिय भक्त एवं उपासक के अन्तःकरण का 'X—Ray' लेते हुए फरमा रहे हैं कि उसका भक्त इन नाना प्रकार की खोटी एवं निकृष्ट नकारात्मक वृत्तियोपर, उनकी अपार कृपा एवं अनुकम्पा से 'हावी' (over power) आ जाता है तथा अपने अन्तःकरण को इन वृत्तियों से रहित कर के बिल्कुल शुद्ध एवं विमल बनाने में सुचारु रूप से सफलता प्राप्त कर लेता है।

—याद रहे—

यही विकार रहित अन्तःकरण ही कुछ समय पा

कर भगवान्‌जी के दिव्य एवं अलौकिक देव-दुर्लभ दर्शनोंका अधिकारी बन जाता है। आह, क्या कमाल! मानव जब इन नकारात्मक वृत्तियों के अधीन था तो 'दानव-तुल्य' था, जब इन वृत्तियो को अपने अधीन कर लिया तब मानव यथार्थ रूप में 'मानव' कहलाने लगा और जब भक्तिके प्रताप से अन्तःकरण को बिलकुल शुद्ध, निर्मल एवं स्वच्छ बना लिया तब वह 'देव तुल्य' हो गया और इसी मानसिक स्तर को जब और भी ऊँचा उठाया तो यही नर नारायण' के समान प्रतीत होने लगा। अतः हमारे अनुभवी महापुरुष मानव को चेतावनी देते हुए कहते हैं—

(क) मन के बहुतक रंग हैं, छिन्न-छिन्न बदले सोय।
एक रंग में जो रहे, ऐसा विरला कोय॥

(ख) मन लोभी मन लालची मन लम्पट मन चोर।
मनके मते न चालिये, पलक-पलक मन और॥

(ग) चाह चूड़ी चम्हारनी अति नीचन की नीच।
तू तो पूर्ण ब्रह्म था, जो चाह न होती बीच॥

(५४)

* इच्छापूर्ति के स्थान-भगवान् *

—❀❀—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांतथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

गीता—३/३१

अर्थ—हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते है, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ. क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

-अर्थात्-

'जिस भाँति जो भजते मुझे,
उस भाँति हूँ फल-भोग भी ।
सब ओर से ही बर्तते,
मम-मार्ग में मानव सभी ॥

—❀❀—

किस चीज की कमी है दाता तेरी गली में ।
मिलते हैं सब पदार्थ भगवन् ! तेरी गली में ॥

प्रिय गीता-पाठक !

हमारे इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जो महाराज स्वयं तो आप्तकाम एवं पूर्णकाम हैं साथ ही अपने भक्तों को लौकिक एवं पारलौकिक सब प्रकार की छोटी-

बड़ी कामनाओं को पूरा करने के लिये श्रीगीताजी के उपरोक्त श्लोक द्वारा वचनबद्ध हुए पड़े हैं। विकास-वाद के अटल नियम अनुसार हमारे भगवान् जी के चार प्रकार के भक्त होते हैं। यथा—

(१) आर्त

(२) अर्थार्थी

(३) जिज्ञासु

(४) ज्ञानी

'आर्त-भक्त' नाना प्रकार के दुःखों में ग्रस्त होकर उनके निवारणार्थ भगवान्जी के धर्मस्थान में जाकर उनका शुद्ध एवं पावन नाम ले-लेकर पुकारने एवं आह्वान करने लगता है। भगवान् जी अपनी अत्यन्त उदारचित्तता के कारण उसकी इस मनोकामना को पूरा करने में अधिक विलम्ब नहीं करते।

दूसरे प्रकार के भक्त होते हैं—'अर्थार्थी'। इस प्रकार के भक्त संसार में किसी नाम-रूप के अभाव में दुःखी होकर भगवान्जी को अन्तस्तल से पुकारने एवं स्मरण करने लगते हैं। भगवान्जी ऐसे अर्थार्थी भक्तों की भी कामना पूर्ति कर देते हैं। ये तो ठहरे लौकिक भक्त। तीसरे है भगवान् जी के पारलौकिक भक्त—

'जिज्ञासु'। उन्हें केवलमात्र भगवान् को जानने एवं अनुभव करने की तीव्र लालसा होती है। इसी की पूर्ति के लिये वे घर-बार छोड़कर एकान्त एवं सुनसान स्थान में जा डेरे जमाते हैं।

'जहाँ चाह—वहाँ राह'

—के अटल नियमानुसार वे भगवान् जी द्वारा इस जिज्ञासा की पूर्ति अविलम्ब होते हुए देख लेते हैं।

'ज्ञानी भक्त' का तो कहना ही क्या! वह तो अपने निजस्वरूप परमात्मा से सब प्रकारको कामनाओं को पूरा करवा कर उनमें एकमेक हुआ होता है।

इस प्रकार भगवान्जी इन नाना प्रकार के भक्तों को पूरा-पूरा आश्वासन देते हुए कह रहे हैं कि तुम अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये इधर-उधर मत भटको, देवी-देवताओं के सामने न सर पटको अपितु मेरे ही प्यारे बनकर सब प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के लिये केवल मुझे ही पुकारो।

—क्योंकि—

यह उनका अटल एवं अपरिहार्य नियम है—

'मेरे पास जिस राह से लोग आयें,

मैं राजी हूँ अर्जुन मुराद अपनी पायें

-फलतः-

हम सब गीतानुयायी एवं श्रीकृष्ण प्रेमियों के लिये आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हो जाता है कि भगवान्‌जी के अनन्य-भक्त बनकर जो कुछ भी माँगना हो अपने इष्टदेव से ही माँगें। इससे अपने इष्टदेव के प्रति उत्तरोत्तर प्रेम, विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा, भक्तिभाव एवं प्रभु-लग्नता बढ़ती चली जायेगी। भगवान्‌जी के अनन्य एवं पक्के भक्त अपनी मस्ती में भरकर अपने मनोभाव इस प्रकार अलापते हुए सुनाई देते हैं—

असीं अपना श्याम मनावांगे,
साथों जगत् मनाया नहीं जांदा।
एह सर है अमानत मोहन दी,
दर-दर ते झुकाया नहीं जांदा॥
इस दिल विच सूरत रब दी ए,
कोई होर वसाया नहीं जांदा।
असीं अपना श्याम मनावांगे,
साथों जगत् मनाया नहीं जांदा॥

(५५)

★ वर्ण-विभाग ★

—❀❀—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥

गीता—४/१३

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान।

—अर्थात्—

'चार वर्णों में विभाजित कर दिये गुण कर्म से।
फिर भी अविनाशी अकर्ता मुझको दिलमें जान ले॥'

प्रिय गीताध्यायी !

इस अतिविचित्र एवं वाद-विवाद प्रधान युग में आजकल के नवयुवक भारत के वर्ण एवं जाति विभाग को बहुत ही आपत्तिकारक एवं हानिकारक कह कर अपनी मूर्खता का परिचय देने लगते हैं और इस विषय को विवादग्रस्त (controversial) बना कर एवं व्यर्थ

समझते हुए उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगते हैं। तो आइये, भगवान्‌जी के अनमोल कथनानुसार विचार करें कि क्या यह विषय विवादग्रस्त है या अत्यन्त उपादेय एवं लाभप्रद है? हिन्दु-धर्म की सराहनीय खोज के अनुसार प्रत्येक जीव अपने पूर्वजन्म के संस्कारों (Unfulfilled desires) को लेकर ही उत्पन्न होता है। यह नियम प्रायः प्रत्येक मानव-जाति के व्यक्ति पर चरितार्थ होता है। हाँ, केवल कारकपुरुष ही पोंची हुई पट्टी के समान भगवान् की दैवी-प्रेरणा अनुसार किसी विशेष, अतिविशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये अवतरित होते हैं। हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज उपरोक्त श्लोक में इस सम्बन्धी नाना प्रकार के उठ रहे एवं भविष्य में उठने वाले सम्भावित प्रश्नों एवं शङ्काओं का समाधान अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार कहकर निरुत्तर कर रहे हैं—

'यह वर्ण मैंने बनाये हैं गुणों और कर्मों के अनुसार।' यथा—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'

अतः सिद्ध हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने संस्कारों के अनुसार ही उत्पन्न होता है और उन्हीं संस्कारों की प्रेरणा अनुसार ही उसी प्रकार के कार्य

करने के लिये बाध्य-सा हो जाता है। गुणों एवं कर्मों को सम्मुख रखकर यदि हम मानव जाति का सुव्यवस्थित रूप से विभाग करें तो वह इस प्रकार बैठता है—

(क) बुद्धि प्रधान मानव
(ख) शरीर प्रधान मानव
(ग) वाणिज्य प्रधान मानव
(घ) श्रम प्रधान मानव

ये विभाग केवल धर्मभूमि भारतमें ही नही अपितु जहाँ कही भी मनुष्य जाति होगी, अनिवार्य रूप से उस जाति का सर्वतोमुखी विकास करने के लिये इस का होना अत्यन्त आवश्यक है। आओ थोड़ी गम्भीरतापूर्वक विचार करें—

भारतवर्ष मे बुद्धिप्रधान बुद्धिमानों को भगवान् जी ने 'ब्राह्मण' की संज्ञा दी है, इसी को विदेश वाले 'दार्शनिक' (Philosopher/Thinker) के नाम से पुकारते हैं। यह वर्ग मानवजाति के लिये शरीर में 'सिर' (Head) की नाईं अत्यन्त लाभप्रद एवं उपादेय सिद्ध होते है। इनके बिना कोई भी मानवजाति किसी प्रकार की भी उन्नति एवं विकास कदापि-कदापि नही कर सकती।

भारत में दूसरे वर्ग को हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय देते हुए 'क्षत्रिय' की संज्ञा से पुकारा। अन्य देश वालों ने इस वर्ग को 'सेनानी' (warrior) के नाम से पुकारना अपना गौरव समझते है। मनुष्य जाति की रक्षा एवं सुव्यवस्थित आज्ञाओं का पालन करवाने के लिये इस वर्ग का होना अत्यन्तावश्यक है। इस वर्ग के बिना कानून और शान्तिका होना असम्भव हो जाता है।

तीसरा वह वर्ग है जिनके पास बाप-दादाओं की ओर से प्रचुर मात्रा में पूंजी होती है। इस वर्ग को हमारे भगवान्जी 'वैश्य' कहते हैं। ये उसी पूंजी से खेती-बाडी एवं देश-प्रदेश में बड़े पैमाने पर वाणिज्य अथवा व्यापार करके देश की समृद्धि मे अपनी ओर से पूरा-पूरा योगदान देते हैं। इस वर्ग को अन्य देशों में व्यापारी, उद्योगी, पूंजीपति के नाम से पुकारा जाता है।

अब रही बात चौथे 'श्रम-जीवी' वर्ग की। ये वे बेचारे हैं जिनके पास न तो बुद्धि है, न ही शारीरिक बल है और न पर्याप्त मात्रा में इतनी पूंजी है कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने काम चला सकें। अतः इस विशेष

वर्ग को हमारे भगवान्‌जी 'शूद्र' के नाम से पुकारते हैं। इन्हें अपना एवं अपने परिवार का पालन-पोषण करने के लिये अनिवार्य रूप से उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करके निर्वाह करना होता है। अन्य देशों में इसी वर्ग को 'श्रम-जीवी' (Labourers) के नाम से पुकारा जाता है।

सुधि पाठक स्वयं ही अब निर्णय करें कि क्या यह वर्ण-व्यवस्था भारत में ही है या विश्व के कोने-कोने में व्याप्त है। मनुष्य वर्ग के विकास के लिये प्रत्येक स्थान पर, जहां मानव-जाति का निवास है, इसका होना अनिवार्य है।

—फलत:—

भगवान्‌जी द्वारा गुणों एवं कर्मों को सम्मुख रखकर, मनुष्य जाति को चार भागों में विभक्त करना, अपनी दूरदर्शिता का परिचय देकर मानव जाति को सर्वतो-मुखी विकास का पूरा-पूरा अवसर देना है। यदि मैं इस वर्गीकरण (Classification) को मानव समाज के लिये अनिवार्य एवं अपरिहार्य कह दूं तो कोई अति-शयोक्ति एवं अत्युक्ति न होगी। पूर्ण आशा है कि भग-वान्‌जी के इस वर्गीकरण को इस दृष्टिकोण से देखने में किसी भी युवक को आपत्ति न होगी अपितु वह

भगवान्‌जी के इस वर्गीकरण को सराहे बिना रहेगा नही। अतः इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तव करें तथा अपने-आपको मानव जाति के लिये उद्योगी, सहयोगी एवं अधिकतम उपयोगी बनाने का प्रयास करें। भगवान्‌जी आपके सहायक हो !

जय भगवत् गीते !

—※※—

गीता-गौरव

गीता का उपासक दु:ख में व्याकुल नहीं होता, धैर्य नही छोड़ता और सुख में भोगों की चाह नही करता। राग, भय और क्रोध सब पर शासन करता हुआ वह प्रत्येक स्थिति में आनन्द से रहता है।

—※※—

"जिस पुरुष का मन श्रीगीताजी के परिशीलव में आनन्द पाता है, वही पुरुष अग्निहोत्री, सदा जप करने वाला, क्रियावान्, पण्डित, दर्शनीय, योगी और ज्ञानवान् है।"

(५६)

☆ पथ-परम्परागत ★

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥
गीता—४/१५

अर्थ—पूर्वकाल के मुमुक्षुओ ने भी इस प्रकार जान कर ही कर्म किये हैं। इसलिये तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किये जाने वाले कर्मो को ही कर।

-अर्थात्-

'यह जान कर्म मुमुक्षु पुरुषों ने सदा पहले किये।
प्राचीन पूर्वज-कृत करो, अब कर्म तुम इस ही लिये॥'

प्रिय मननशील गीताध्यायी !

वो चाल चल कि उमर खुशी से कटे तेरी,
वो काम कर कि याद तुझे सब किया करें।
जहाँ भी तेरा जिकर हो वो जिकर खैर हो;
और नाम तेरा लें, तो अदब से लिया करें॥

भगवानजी की इस विचित्र सृष्टि मे श्रम-जीवी तो अगणित है किन्तु बुद्धिजीवी एवं यथार्थ रूपमें बुद्धिमान् और उनमें भी विज्ञानी बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं। इस कौतुकता से परिपूर्ण कलिकाल मे विवेकिनी बुद्धि

वाले अहोभाग्यशाली मानव ओजस्वी, तेजस्वी एवं योगी ही हुआ करते हैं। वे अपने जीवन का अनमोल समय एकान्त में निवास करते एवं आत्म-अनुभव में ही व्यतीत करते हुए अन्त में अनेकों अल्प-बुद्धि वालों के लिये आदर्श बन कर अपने जीवन को सफल बनाते हुए इस नश्वर संसार को त्याग देते हैं। उन अनुभवी एवं योगी महापुरुषो का जीवन सचमुच न केवल सराहनीय ही माना गया है अपितु अनेको के लिये अनुकरणीय भी समझा जाता है, क्योंकि उन आदर्श महापुरुषों की प्रत्येक क्रिया और रहनी-सहनी प्रेरणादायक होती है। ऐसा आदर्श वर्ग विश्व के हर कोने में जहाँ मानव-जाति निवास करती है, अनादि-काल से प्रभु-प्रेरणा से चलता आ रहा है एवं भविष्य में भी चलता रहेगा। हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज अपने इस अनमोल उपदेश द्वारा श्रीगीताजी के माध्यम से मानवजाति को यह अत्यन्त कल्याणकारी उपदेश दे रहे हैं कि वे अपने जीवन में ऐसे उच्चकोटि के अनुभवी एवं प्रभु-प्राप्त महापुरुषों के जीवन को आदर्श मान कर उनकी प्रत्येक क्रिया, विचार, भावना, श्रद्धा एवं दैनिक व्यवहार को अपने जीवन में उतारने की भरसक चेष्टा किया करें क्योंकि ऐसे महापुरुष दूसरों के लिये ही

अपना जीवन व्यतीत कर रहे होते है । महापुरुषों के जीवन की एक-एक क्रिया बड़े जोरदार शब्दों में मानो यह पुकार-पुकार कर सुना रही होती है—

'सर्व हिताय सर्व सुखाय ।'

'सर्व हिताय सर्व सुखाय ॥'

भगवान्‌जी की यह अनमोल सूक्ति उनकी रग-रग में समाई होती है—

'सर्वभूतहिते रताः'

अतः अल्पबुद्धि वालो के लिये महापुरुषों का अनमोल जीवन प्रकाश-स्तम्भ (Light-house) के समान हर समय एवं हर परिस्थितिमें जगमगा रहा होता है। अल्पबुद्धि वाले मनुष्य के पास न तो इतना समय होता है तथा नही इतनी कुशाग्र एवं प्रखर बुद्धि होती है कि वह उचित-अनुचित, कार्य-अकार्य तथा भलाई-बुराई में गम्भीरतापूर्वक मनन करते हुए भेद कर सकें। अतः भगवानजी उच्चकोटि के महापुरुषो को ऐसे साधारण मनुष्यों में जन्म दे कर उन्ही के कल्याणार्थ तथा उनके द्वारा एक उच्चकोटि का शान्ति एव कल्याण का स्तर प्रस्तुत कर देते हैं ताकि साधारण एवं सामान्य मानव उन महापुरुषो का अनुकरण एवं अनुसरण कर के, न केवल, उच्चकोटि की शान्ति को ही प्राप्त कर सकें अपितु

अपने इस लघु जीवनमें अपना कल्याण भी कर सके। निःसन्देह, ऐसे आदर्श महापुरुषों का जीवन साधारण पुरुषो के लिये ऐसे ही सिद्ध होता है जैसे गणित में नई विधि को सीखने के लिये पूर्व में कई उदाहरण रखे जाते हैं।

—फलतः—

भगवान्‌जी आदेश देते हुए कह रहे हैं—

इसी तरह तू भी किये जा अमल,
बजुर्गों के नक्श-ए कदम ही पे चल।

जय भगवत् गीते !

—※※—

★ गीता-गौरव ★

"भगवद्गीता के अतिरिक्त ऐसा कोई दूसरा भारतीय ग्रन्थ नही है, जिसकी भारतवर्ष में एवं अन्य-अन्य देशोंमें दूर-दूर तक इतनी प्रसिद्धि हुई हो और जिसको ईश्वरीय संगीत मान कर भारत में सभी लोग इतना प्रेम करते हों।"

(५७)

* कर्मों की गति गहन *

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

गीता—४/१७

अर्थ—कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योकि कर्म की गति गहन है ।

—अर्थात्—

'हे पार्थ ! कर्म अकर्म और विकर्म का क्या ज्ञान है ।
यह जान लो सब, कर्मकी गति गहन और महान् है ॥'

प्रिय-गीता मनीषी !

सचमुच, कितना विचित्र है यह संसार ! यदि इस को कौतुकालय (Museum) कहा जाय तो कोई अति-शयोक्ति न होगी । न केवल यहां योनियो में विभिन्नता दिखाई देती है अपितु नाना प्रकारके प्राणियो के हाव-भाव, भावना, विचार एवं कर्मों मे भी आकाश पाताल जितना अन्तर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है । इस का मुख्य कारण संस्कारो में भिन्नता ही माना जाता

है। किसी में रजोगुण का प्राबल्य है तो किसी में तमोगुण की अधिकता है तथा किसी में सतोगुण की अधिकता एवं प्रचुरता प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देती है। गुणों में भेद भी जीवकी अपनी वासनाओं एवं प्रारब्ध के अनुसार ही होता है। हमारे जगद्गुरु भगवान् श्री-कृष्णचन्द्रजी महाराज उपर्युक्त श्लोक द्वारा इस विवाद-ग्रस्त (Controversial) विषय को सुबोध एवं सुगम्य करते हुए कह रहे हैं कि इन्ही गुणों एवं कर्मो को भिन्नता के फलस्वरूप कोई कर्म करता है तो कोई अकर्म एवं कोई विकर्मों में ही अहर्निश ग्रस्त हुआ दिखाई देता है। तो अब आओ, इस कर्म, अकर्म एवं विकर्म को समझने की चेष्टा करे—

(क) कर्म

जब साधारण एवं सामान्य मानव में संसार सम्बन्धी संस्कार भरे हुए होते है तो वह नाना प्रकार की ऐहिक कामनाओं के अधीन हुआ-हुआ कर्म करने के लिये बाध्य हो जाता है अर्थात् उसे वासनायें, कामनाये एवं प्रबल इच्छायें नाना प्रकार के कर्म, दुष्कर्म एवं अहंकारभरी क्रियाये करने के लिये बाध्य कर देती है। इन्ही सब क्रियाओं एवं कर्मो को भगवान्जी कर्म के नाम से पुकारते हैं। इन कर्मों के करने से मनुष्य के

अन्तःकरण पर और भी दूषित संस्कार एकत्रित हो जाते है और मनुष्य इन्ही संस्कारों के फलस्वरूप चिन्तित एवं खिन्न-चित्त रहने लगता है। उसके मुख पर कभी भी शान्ति एवं प्रसन्नता के शुभ चिह्न दिखाई नही देते। जब भी इस मन्दभागी को देखो तब ही वह उदास, हताश एवं निराश ही दृष्टिगोचर होता है। जैसे हारा हुआ जुआरी किंवा नाव डुबोया हुआ नावक दिखाई देता है ऐसी ही इस मन्दभागी की स्थिति बन जाती है। इस प्रकार के व्यक्ति को बारम्बार 'पुनः अपि जननं पुनः अपि मरणं' के विचित्र चक्कर में आना पड़ता है।

(ख) अकर्म

अकर्मी मानव उपर्युक्त कर्मी मानव के बिलकुल विपरीत होता है। यह उच्चकोटि का निष्काम कर्मयोगी माना जाता है। ऐसा बड़भागी मनुष्य अपने-आपको सदा-सर्वदा के लिये अपने इष्टदेव के श्रीपाद-पद्मों में समर्पित कर के उन्ही की दिव्य एवं अत्यन्त कल्याण-कारिणी शुभ प्रेरणा को ले कर समस्त मानव-जाति एवं अवशेष प्राणियों के कल्याणके लिये अपने भगवान् जी की कठपुतली बना हुआ (निमित्तमात्र) दिन-रात मङ्गलकारी क्रियायें करता रहता है। वह बिल्कुल

द्वन्द्वातीत, गुणातीत एवं अहङ्कार रहित हुआ-हुआ विचरता है। मानव समाज में रहते हुए तथा 'सर्व-हिताय सर्वसुखाय' कर्म करते हुए भी उनके संस्कारोंसे सदा बचा रहता है। अतः इसकी क्रियाये उस द्वारा प्रत्यक्ष होती हुई भी न होने के समान मानी जाती हैं। हमारे इष्टदेव भगवान्‌जी इस प्रकार के प्यारों को 'अकर्मी' के नाम से पुकार रहे हैं। भगवान्‌जी को यह अकर्मी-भक्त अत्यन्त प्रिय होते हैं क्योंकि ये समस्त मानवजाति के लिये प्रकाश-स्तम्भ (Light-House) की नाईं सिद्ध हो रहे होते हैं। निःसन्देह, इनका जीवन आदर्श अति आदर्श (Ideal) माना जाता है। खेद ! महाखेद !! अर्वाचीन में ऐसे व्यक्तियों की गिनती बहुत अल्प है और दिन-प्रतिदिन अल्पतर होती चली जायेगी।

प्रिय गीताध्यायी ! क्या आप अपना शुभ नाम ऐसों की गिनती में लिखवा कर भगवान् के प्यारे बनेंगे ? सचमुच, समय की माँग है कि ऐसे आदर्श जीव उत्तरोत्तर इस धर्मभूमि भारत में बढ़ते जायें और भूले-भटको को सुमार्ग पर लाते हुए उनके परम हितैषी पथ-प्रदर्शक सिद्ध हों।

(ग) विकर्म

जब मानवमें तमोगुण मिश्रित रजोगुण बढ़ा हुआ

होता है तब उसकी बुद्धि पर दूषित संस्कारोंका सघना आवरण पड़ जाता है, जिसके कारण वह उचित-अनुचित, कार्य-अकार्य एवं नित्य-अनित्य की पहचान बिलकुल ही नहीं कर सकता। 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' की प्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार अब वह अनुचित को ही उचित, अकार्य को ही कार्य एवं अनित्य को ही नित्य समझ कर सब प्रकार के निकृष्ट एवं अभद्र कर्मों में अपने-आपको लगा देता है। कुछ ही समयके पश्चात् वह लोकनिन्द्य, अत्याचारी, भ्रष्टाचारी, कदाचारी एवं दुराचारी प्रसिद्ध हो जाता है। उसके अन्तःकरण में सब प्रकार के दोष विद्यमान हो जाते हैं। इन दूषित एवं अभद्र कर्मों को ही 'विकर्म' के नाम से पुकारा जाता है।

गीता के प्रेमी एवं अनुयायी के लिये अब यह आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी हो जाता है कि वह उपरिलिखित 'कर्म', 'अकर्म', एवं 'विकर्म' में भेद करता हुआ भागीरथ पुरुषार्थ करके 'अकर्म'को ही सम्पादन करनेकी भरसक चेष्टा करे। तब, केवलमात्र तब ही वह अपना जन्म सफल करता हुआ कृतकृत्य हो सकेगा। कवि ने चेतावनी देते हुए क्या ही सुन्दर एवं मार्मिक शब्दों में कहा है—

वो चाल चल कि उमर खुशी से कटे तेरी,
वो काम कर कि याद तुझे सब किया करे।
जहाँ भी तेरा जिकर हो वह जिकर खैर हो;
और नाम तेरा लें, तो अदब से लिया करें॥

—※※—

※ गीता-गौरव ※

अनासक्तिपूर्वक सब काम करना ही गीता की प्रधान ध्वनि है।"

—महात्मा गान्धीजी

—※※—

"जो गीता का भक्त है, उसके लिये निराशा की कोई जगह नहीं। वह हमेशा आनन्द में रहता है।"

—महात्मा गान्धीजी

—※※—

"फल की कामना से रहित हो कर कर्तव्य का कर्तव्य-दृष्टि से पालन करना ही गीताजी की शिक्षा है।"

—※※—

गीता कामधेनु की भाँति है, जो सारी इच्छाओंको पूरा करती है। अतः वह माता कहलाती है।"

—महात्मा गान्धीजी

(२८)

* कर्म-अकर्म का रहस्य *

—※※—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
गीता—४/१८

अर्थ—जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है।

—अर्थात—

'जो कर्म में देखे अकर्म, अकर्म में भी कर्म ही।
है योगयुक्त ज्ञानी वही, सब कर्म करता है वही॥'

ओ मननशील गीताध्यायी जिज्ञासु साधक !

निःसन्देह, 'कर्म' न केवल अपने-आप में रहस्य लिये हुए है अपितु इसका एक वृहत् इतिहास है। कैसी विचित्र स्थिति में मानव के अन्तःकरण पर संस्कार पड़ते है, उन्ही संस्कारो से विचार बन जाते हैं, वही विचार अन्तःकरण को बारम्बार स्पर्श करने लगते हैं और शरीर के स्तर पर उतर कर्मों में परिणत हो जाते है। ऐसे कर्म अपनी प्रतिक्रिया रूप में पुनः संस-

कारों से परिवर्तित हो जाते हैं। आह! यह विचित्र एवं अति अद्भुत चक्कर भगवान् जानें कब से चल रहा है और जब तक जीव भगवान् का पूर्णरूपेण उपासक बनकर समस्त संस्कारों को भस्मीभूत नहीं कर देता तबतक यह चक्कर चलता ही रहेगा। यही कर्म ही कभी 'संचित-कर्म' के नाम से पुकारे जाते हैं, कभी 'प्रारब्ध' के नाम से निश्चित होते हैं तथा कभी यही कर्म 'क्रियमाण' के नाम से पुकारे जाते है। हमारे परम हितैषी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज गीता-गायक के रूप से इस श्लोक द्वारा एक बहुत ही रहस्य-भरी एवं कल्याणकारी बात पर प्रकाश डालते हुए कह रहे हैं कि जब मानव अपने अन्त:करण को निर्मल करता हुआ सब प्रकार के संस्कारों से रहित हो जाता है; तब, केवलमात्र तब ही वह अपनी बुद्धि के आव-रणों को उतार कर विवेकिनी बुद्धि को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। इस उत्तम बुद्धि को प्राप्त करने के पश्चात् मानव कर्म के इस गूढ़ रहस्य को भली प्रकार समझने में सुचारु रूप से सफल हो जाता है। अब वह यह सम्यक् प्रकार से अनुभव करने लगता है जब एक साधारण एवं सामान्य मानव बाह्य रूप से कुछ न करता हुआ भी अर्थात् अपनी इन्द्रियों द्वारा किसी प्रकार की क्रिया न करता हुआ

अपने मन में इधर-उधर के तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सङ्कल्प-विकल्पो में अपने मन को लगाये रखता है तब वह शारीरिक रूप से कुछ न करता हुआ भी भगवान्‌जी की दृष्टि से सब कुछ कर रहा होता है क्योंकि संसार के नाम-रूपो को राग-द्वेष के आधार पर चिन्तन करने के फलस्वरूप उनके दूषित संस्कार अन्तःकरण पर पड़ रहे होते हैं। इसके विपरीत हमारे जगद्गुरु भगवान्‌जी कर्म के रहस्य को स्पष्ट कर रहे हैं कि जब निष्काम कर्मयोगी अहंता-ममता से रहित कर्मक्षेत्र में अहर्निश लोक-कल्याणार्थ कर्मों में व्यस्त दिखाई देता है तब वह यथार्थ रूप मे कर्म करता हुआ भी कुछ नही कर रहा होता क्योंकि इन समस्त क्रियाओं में न आसक्ति होती है और न ही क्रिया के फल विशेष पर उसकी दृष्टि रहती है। वह तो केवल 'सर्वभूतहिते रता.' की भावना में मस्त हुआ-हुआ कर्मों में लगा रहता है ताकि उसका जीवन न केवल प्राणियों के लिये उपादेय एवं लाभप्रद सिद्ध हो अपितु आने वाली पीढियों के लिये एक आदर्श (Ideal) रखा जा सके। अतः वह इस दृष्टि से सब कुछ करता हुआ भी कुछ नही करता। इस अनुकरणीय एवं अत्यन्त सराहनीय निष्काम कर्मयोगके द्वारा वह बिना विलम्ब

अपने इष्टदेव गीतागायक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज के देव-दुर्लभ एवं दिव्य-दर्शनों का अधिकारी बन जाता है।

प्रिय गीता पाठक ! क्या आप ऐसे कर्मोंमें अकर्मी बनने का प्रयास करेंगे ? क्या 'सर्व हिताय एवं सर्व सुखाय' की उच्चकोटि की भावना में लग कर परोपकारी जीवन बनाने में अपनी ओर से पुरुषार्थ करेंगे ? तनिक सोचो, पुनः सोचो, एक बार फिर गम्भीरतापूर्वक मनन करो और अपने अन्तर्यामी इष्टदेव की शुद्ध एवं शुभ प्रेरणा को प्राप्त करने का प्रयास करो। त्रिलोकीनाथ दयालु-कृपालु प्रभो आपकी इस रूप में पूरी-पूरी सहायता करें, लेखक की विनीत एवं प्रेम-स्निग्ध प्रार्थना है, भगवान्‌जी स्वीकार करें।

(५९)

भावना विमल—अन्तःकरण निर्मल

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
गीता—४/१९

अर्थ—जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये है, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

—अर्थात्—

'ज्ञानी उसे पण्डित कहें उद्योग जिसके हों सभी।
फल-वासना बिन; भस्म हों ज्ञानाग्निमें सब कर्म भी ॥

प्रिय गीता मनीषी !

हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज उपर्युक्त श्लोक द्वारा अब इस बात का निर्णय दे रहे हैं कि जब मन का सच्चा एवं निश्चय का पक्का गम्भीर साधक निष्काम कर्मयोगको मनसा, वाचा एवं कर्मणा एक होकर अपनाता रहता है, तब कुछ ही समय पश्चात् उसका अन्तःकरण जन्म-जन्मान्तरो के दूषित संस्कारों से रहित होकर स्थिर एवं शान्त होने लगता

है। अब मन में पुराने स्वभावानुसार विक्षेपता नही रहती। मन ज्ञान को प्राप्त करता हुआ आवरणों को भस्मीभूत करने में सफल मनोरथ हो जाता है। अतः किसी भी निष्काम कर्मयोगी साधक के लिये यह आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हो जाता है कि वह बिना ऊबे एवं खिन्न हुए मनसे बडे उत्साह एवं लगनके साथ जनता को जनार्दन रूप समझने हुए तथा इस संसार के विचित्र द्वन्द्वों का सहर्ष बडे धैर्य के साथ सामना करके अपने इस कर्मयोग के साथ जूझना रहे। नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं को प्रभु की अपने ऊपर महती-कृपा समझते हुए दूर करने की भरसक चेष्टा करता रहे। इस योग में मन कई बार पुराने विचित्र संस्कारों के फलस्वरूप उथल-पुथल मचायेगा, ऊबेगा और मनमानी करने का अपनी ओर से पूरा-पूरा यत्न करेगा परन्तु साधक को प्रभु-आश्रित एवं प्रभु-परायण होते हुए किसी भी मूल्य पर इसके सम्मुख घुटने नहीं टेक देने चाहिये। प्रभु—प्रदत्त दैवी-शक्ति का आश्रय लेते हुए डट कर मुकाबला करते हुए मन की इन कुचालों एवं कुभावनाओं पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये। मन के साथ इस प्रकार लगातार मुकाबला करते रहने से, प्रभु की महती एवं निहित कृपा से यह

अति शीघ्र निर्मल होने लगता है। तब यही चञ्चल, अस्थिर एव मननशील मन कान पकड़ी छेरी के समान अपने अधीन होकर पूर्णरूपेण आज्ञाकारी बन जाता है। अत. साधक को निष्काम कर्मयोग की प्रारम्भिक अवस्था में बडे धैर्य एव साहसपूर्वक काम लेना चाहिये।

—स्मरण रहे—

इसी योग से ही जीव अपने अन्तःकरण को सदा-सर्वदा के लिये निर्मल करता हुआ उच्चकोटि के ज्ञान का अधिकारी बन सकेगा। अत. प्रभु-आश्रित होकर तथा मन को सङ्कल्प-विकल्प से रहित करते हुए अपने इष्टदेव के लिये ही कर्म करते रहना चाहिये। इसी अवस्था को सराहते हुए हमारे उच्चकोटिके ब्रह्मज्ञानियो ने ऐसे निष्काम कर्मयोगी को आदर एवं मानपूर्वक 'पण्डित' के नाम से पुकारा है।

क्या हम गीतानुयायी पाठकों से यह आशा रख सकते है कि वे भी भगवन्नाजी के इस अत्यन्त उपादेय कथनानुसार अपना अन्त.करण निर्मल एवं विमल बनाने का अपनी ओर से यथा सम्भव प्रयास करेंगे।

जय भगवत् गीते !

—※※—

(६०)

* प्रभु-भक्त—सदा तृप्त *

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥

गीता-४/२०

अर्थ—जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग कर के संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भली-भाँति वर्तता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता।

-अर्थात्-

जो है निराश्रय तृप्त नित,
फल कामनायें तज सभी।
वह कर्म सब करता हुआ,
कुछ भी नहीं करता कभी ॥'

प्रिय गीता-मनीषी !

दीन-ओ दुनियाँ को भुला दे
जो प्रभु का होश दे।
है जरूरत साकिया
मस्तों को ऐसे जाम की ॥

—❀❀—

सचमुच, निष्काम कर्मयोगी पूर्णरूपेण प्रभु-परायण हुआ होता है। उसे अपने कर्मक्षेत्र को धर्मक्षेत्र मे परिवर्तित करते हुए प्रभु-प्रेरित एवं प्रभु-आश्रित हो कर केवल कर्तव्य-कर्मों को ही करना होता है। न उसे अब प्राकृतिक द्वन्द्वो की ओर ध्यान है और न ही यहाँ-वहाँ की कोई चिंता व्याकुल करती है। शान्त, सुस्थिर एवं निश्चलचित्त हुआ प्रभुके हाथ में कठपुतलीको नाईं अहर्निश प्रभुका ही बना हुआ, जैसे उसे इष्टदेव प्रेरणा देते है तदनुसार वह 'सर्वहिताय एवं सर्वसुखाय' कार्य करता ही रहता है। बुद्धि देखो तो सुस्थिर, मनका अवलोकन करो तो सुनिश्चित, उस द्वारा हो रहे कार्योंपर दृष्टिपात करो तो अत्यन्त कल्याणकारो, शुभ एवं मङ्गलकारी प्रतीत होते हैं। न कार्यों के लाभ को ओर ध्यान और न हानि को ही कोई चिंता। न वह सुख चाहता है और न दुख दूर करने के लिये आकुल-व्याकुल होता है। न मान चाहने का भाव है और न अपमानित होने का भय। अजी, और-तो-और जीवन की अत्यन्तावश्यक वस्तुओ की चाहना से भी बिल्कुल अतीत दिखाई देता है! एक ही पाठ उसने प्रभु का भलो प्रकार पक्का कर रखा होता है—

'यदृच्छालाभसंतुष्टो' गीता—४/२२

(जो बिना इच्छा अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा सन्तुष्ट रहता है।)

जब भी देखो अपने-आपमे तृप्त, सन्तुष्ट, स्वावलम्बित, हृष्ट-पुष्ट, प्रसन्नमुख एवं चन्द्रमा की ज्योत्सना के समान चमकता-दमकता हुआ, हाथी के समान मस्त-अलमस्त हुआ अपने उच्चकोटि के भावो एवं विचारों में मग्न ! निस्सन्देह, वह सदा ही 'नित्यतृप्तः निराश्रय' हुआ होता है !

बाह्य रूप से दिखाई तो देता है समाज में रहता हुआ परन्तु मन-ही-मन सहारा लिये हुए होता है अपने अन्तर्यामी, कृपालु, दयालु इष्टदेवजीका ! कितना सराहनीय जीवन है उसका ! कमल के समान जल में रहता भी है लेकिन न रहने के समान ! इसके ऐसे निराले एवं अद्भुत जीवन को देख कर एक भारतीय कवि क्या ही मस्ती में पुकार उठता है—

रहता है दुनियां में, दुनियां का तलबगार नहीं,
बाजार से गुजरा है, खरीदार नहीं।

हक के बन्दे को रहा, दुनियां से कुछ काम नहीं,
कैद से छूट गया, दाना नहीं दाम नहीं ॥
(१)
ख्वाइशें सारी मिटीं रंग बे रंग चढ़ा।
बे पिये मस्त हुआ साकी नहीं जाम नहीं ॥

(२)

नंग और नाम की परवाह नहीं उसको रहीं।
वो मिला ज़ात में अब ज़ात नही नाम नहीं॥

(३)

उस महल पर चढ़ा, जिसका नहीं कुछ भी निशाँ।
दर नहीं खिड़की नहीं जीना नहो बाम नहीं॥

(४)

है समय एक-सा सब ऐसे बशर को यारो।
जल्दी और देर नहीं सुबह नहीं शाम नही॥

(५)

राम दुनियाँ का नहीं उसकी नज़र में यारो।
राम अब राम हुआ, वो तो रहा अब राम नहीं॥

(६)

सबमें रह कर भी फकत मिलता है वो एक से ही।
सब में रहता है मगर खास नहीं आम नहीं॥

(७)

जिस्म तो रखता है पर, परवाह नहीं उसकी उसे।
दिल तो रखता है मगर, 'दाल' नहीं 'लाम' नही॥

(८)

सिर पे उसके है हमेशा ही हुमाँ का साया।
है शहन्शाह, मगर मुल्क नहीं दाम नहीं॥

(६१)

* पाप-रहित कर्म *

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
गीता—४/२१

अर्थ—जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियो के सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगों की सामग्री का परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता।

प्रिय मननशील गीतानुयायी बड़भागी पाठक !

यद्यपि हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ने श्रीगीताजी के १८वें अध्यायके ४८वें श्लोक में अपने श्रीमुख से फ़रमाया है कि—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूयें से अग्नि के समान सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त हैं।

-अर्थात्-

'निज नियत कर्म सदोष भी,
तो भी उचित नहीं त्याग है॥
सब कर्म दोषों से घिरे,
जैसे धुएँ से आग है॥'

तथापि भगवान्जी के चौथे अध्याय के उक्त २१वें श्लोक द्वारा पापरहित कर्म होना असम्भव नहीं। आज के इस प्रसङ्ग में इसी विवादग्रस्त विषय (Controversial topic) पर हम कुछ विचार-विमर्श करेंगे। इसी प्रस्तुत श्लोक के उपदेशानुसार जब भगवान् का भक्त एवं साधक अपने अन्तःकरण में स्थित नाना प्रकार की वासनाओं, ऐषणाओं तथा कामनाओं को तीव्र विवेक एवं वैराग्य का सहारा लेते हुए सदा के लिये भस्मीभूत कर देता है और 'अनित्यम् असुखम्'के रहस्य को भली प्रकार समझता एव हृदयग्राही करता हुआ सब प्रकार के नाम-रूपों की स्वनिर्मित एवं स्वकल्पित आशाओंको सदा-सर्वदा के लिये त्याग देता है तब, केवलमात्र तब ही उसका चञ्चल एव बहिर्मुखी मन पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी हुआ-हुआ भगवान्जी के श्रीचरणों का सच्चा एवं पक्का भक्त बन जाता है। इस उच्चकोटि की सराहनीय एवं अनुकरणीय दशा मे वह जगत्-आश्रित न रह कर प्रभु-परायण बन जाता है। इस दिव्य दशामें अब उसे

प्रत्येक कार्य करने को प्रेरणा अपने अन्तर्यामी भगवान् जो से ही मिलती रहती है। अब वह कोई भी कार्य मनोद्वेग एवं मनोप्रेरित हो कर नही करता अपितु प्रभु-प्रेरित हो कर ही करता रहता है। अजी! सच पूछो तो वह अपने इष्टदेव भगवान्‌जी के करकमलों की कठ-पुतलीमात्र होता है। जैसे चाहें वह अपने भक्त से कार्य करवा ले क्योंकि उसको अपनी रञ्चकमात्र भी कोई इच्छा नहीं रहती। उसका जीवन तो अब बिल्कुल द्वन्द्वातीत हुआ-हुआ व्यतीत हो रहा होता है।

—फलतः—

ऐसे देव-मानव के प्रत्येक कर्म दिव्यता से भरपूर होने के कारण पापों से बिल्कुल रहित होते हैं।

—स्मरण रहे—

पाप तो तब ही होते हैं जब :—

- निजी - कामनायें हों,
- अपना दुराग्रह हो;
- मानव मनमुखी हो;
- संसार के प्राणी-पदार्थों को सुखदृष्टि से देखता हो;
- जीव में रजो एवं तमोगुणों का प्राबल्य एवं आधिक्य हो;

क्षेत्र में सम्यक् रूप से कर्म करता हुआ भी किस प्रकार कर्म के प्रतिक्रियारूप संस्कारो एवं विकारो से बचा रहता है। ये भाव बहुत ही उच्च एवं अत्यन्त लाभप्रद है। अत. भगवान् जो के इन्हीं भावों एवं विचारो पर बड़ी गम्भीरतापूर्वक एवं दत्तचित्त होकर मनन करना चाहिये। आइये, इस पर संक्षिप्त रूप से हम विचार करे—

(क) यदृच्छा लाभसंतुष्टः—अर्थात् कर्मरत होने से पूर्व प्रभु-भक्त मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर अपने इष्टदेव भगवान्‌जी के श्रीचरणों में अपने-आपको पूर्ण-समर्पित कर देता है। पूर्ण समर्पण कर देने के बाद भक्त के मन में रञ्चकमात्र भी अपनी कोई इच्छा नही रहती। हाँ, यदि कोई इच्छा रहती है तो वह यह कि, अपने इष्टदेव भगवान्‌जी के आदेश को अक्षरशः बड़ी श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक पालन करने की। अतः अपनी ओर से वह खूब पुरुषार्थ करता हुआ अपने निर्धारित कर्म-क्षेत्र में खून पसीना एक करके जुटा रहता है। ऐसे जुटने से उसे जो कुछ एवं जितना कुछ प्राप्त होता है उसे वह 'प्रभु-प्रसाद' समझता हुआ सहर्ष शिरोधार्य करता है। इस विषय में उसके मन में तनिक भी गिला-शिकवा नही होता। क्या मजाल कि वह अपने

कर्म के फल पर कभी भी दृष्टिपात करे। हर स्थिति एवं परिस्थिति में वह अपने मानसिक सन्तुलन को बनाये रखता है। जब भी देखो उसका ललाट विशाल एवं मुखमुद्रा प्रशान्त तथा भव्य दिखाई देती है। हर दशा में सन्तुष्ट एवं तुष्ट रहना उसने पक्का स्वभाव बना लिया होता है। जी हाँ, सन्तुष्ट, सदा सन्तुष्ट! कभी न रुष्ट !!

(ख) द्वन्द्वातीतः—उपरोक्त सराहनीय एवं अनुकरणीय मानसिक अवस्था बना लेने के पश्चात् भगवान्‌जी का भक्त बहुत सुगमतापूर्वक इहलोक के समस्त द्वन्द्व अर्थात्–सुख-दुःख, शीत-उष्ण, जय-पराजय; हानि-लाभ; संयोग-वियोग; जन्म-मरण आदि-आदि से अतीत हो जाता है। कर्म करते हुए उसे अब ऐहिक द्वन्द्व तनिक भी विचलित नहीं करते। निःसन्देह, प्रभु-परायण होने से अब वह द्वन्द्वातीत (worldly-proof) बन जाता है। द्वन्द्व आते तो हैं परन्तु भक्त के सुस्थिर मन को अस्थिर नहीं कर सकते। बेचारे उसके सम्मुख लज्जित हुए-हुए अपना-सा मुँह लेकर लौट जाते हैं क्योंकि वह भगवान्‌जीके इस भावका साकार रूप बन गया होता है—'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।'

(ग) विमत्सर.—निष्काम कर्मयोगी भक्त के निर्मल एवं परिशुद्ध अन्तःकरण में अब ईर्ष्या (डाह) का भाव सदा-सदा के लिये लुप्त हो जाता है क्योंकि जनता को जनार्दन का रूप समझता हुआ वह अनेक मे एक को निहारता रहता है। उसकी पावन एवं दिव्य-दृष्टि मे अब द्वैत का भाव ढूंढे जाने पर भी प्राप्य नही होता। जब द्वैत ही नही तो ईर्ष्या क्यो और कैसे ? क्योकि ईर्ष्या तो अन्य से होती है, भक्त की दृष्टि में अन्य रहा ही नही इसलिये वह अनन्य बन कर प्रभु में तन्मय हो चुका है।

जब भक्त का अन्तःकरण उतरोक्त गुणों से परिपूर्ण हो जाता है तो जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज उपरिलिखित श्लोक द्वारा समझा रहे हैं कि वह कर्म करते हुए भी उन कर्मों में लिपायमान नही होता। सचमुच, वह कर्मो में कूटस्थ एवं तटस्थ बना रहता है। क्रिया को प्रतिक्रिया तो तब होती है जब क्रिया में कुछ चाहने एव प्राप्त करने का भाव रखा जाता है। जब क्रिया केवल भगवान्‌जी के लिये ही की जा रही हो तो फिर उसकी प्रतिक्रिया कैसी !

प्रिय गीतानुयायी पाठक ! क्या आप भी अपनी

ऐसी उच्चकोटि की अवस्था बनाने का यथासम्भव प्रयास करेंगे ? इस उत्तम प्रयास में भगवान् श्रीकृष्ण जी आपकी पूरी-पूरी सहायता करें, यही लेखक की हार्दिक प्रार्थना है !

—※※—

※ गीता-गौरव ※

श्रीकृष्ण के उपदेश में शास्त्रकथित प्रायः सभी धार्मिक विषयों का तत्त्व आ गया है। उसकी भाषा इतनी गम्भीर एवं उत्कृष्ट है कि जिससे उसका भगवद्-गीता अथवा ईश्वरीय सङ्गीत के नाम से प्रसिद्ध होना उचित ही है।

—※※—

भगवद्गीता में सभी धर्मों के मूल तत्त्वों का बहुत ही सुन्दर एवं हृदयग्राही विवेचन हुआ है। गीता किसी भी सिद्धान्त का मण्डन नहीं करती और न उसकी आलोचना ही करती है।

—※※—

"समस्त साहित्य का मन्थन करके व्यास जी की बुद्धिने यह गीता रूपी अवर्णनीय अमृत निकाला है।"

—※※—

(६३)

'यज्ञार्थ कर्म-सफलीभूत, संस्कार समस्त-भस्मीभूत'

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रम् प्रविलीयते ॥

गीता—४/२३

—अर्थ—

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जो देह-अभिमान और ममता से रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञसम्पादन के लिये कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म भली-भाँति विलीन हो जाते हैं।

अहोभाग्यशाली गीता-मनीषी !

'क्रिया-प्रतिक्रिया' का नियम समस्त विश्व में सुविख्यात है परन्तु श्रीगीता जी के निष्काम कर्मयोगी ने इस नियम को भी बिलकुल रद्द कर दिया है। आप यह पढ़ कर सहसा चौंक उठेंगे; भला यह कैसे ? तो लीजिये इसका स्पष्टीकरण कुछ ही पंक्तियों में दिया जा रहा है—

—स्मरण रहे—

क्रिया की प्रतिक्रिया उस ही दशा में सम्भव है जब कर्ता अपने किसी भी कर्म को फलासक्ति की भावना से प्रेरित होकर कर रहा हो। सकाम भावना से किया गया कर्म अन्तःकरण पर दूषित संस्कार डालता है, डालता ही है! परन्तु जब जन्म-जन्मान्तरों के कटु अनुभवों से लाभ उठाता हुआ मानव किसी एक जन्म में पूर्णरूपेण अपने इष्टदेव भगवान् जी को आत्मसमर्पण कर देता है और मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर अपने अन्तस्तल से पुकार उठता है कि 'हे प्रभो! मैं आपका हूँ और सदा आप का ही बना रहूँगा'—तब, केवलमात्र तब ही ऐसा अहोभाग्यशाली मनुष्य प्रभु-परायण एवं प्रभु-प्रेरित हुआ-हुआ लोक-संग्रहार्थ अर्थात्—

'बहुजन हिताय तथा बहुजन सुखाय'

नाना प्रकार के विहित कर्मों मे लग जाता है। अब इस अनुकरणीय एव सराहनीय आदर्श अवस्था में उसका रोम-रोम पुकार उठता है—

श्रीकृष्णार्पणमस्तु! श्रीकृष्णार्पणमस्तु!!
श्रीकृष्णार्पणमस्तु!!!

ऐसे प्रभु-प्रेरित शुभ-कर्मों से प्रत्येक प्राणी का अधिकतम लाभ होता है परन्तु भगवान् के प्यारे भक्त

का ऐसे कर्मों मे रञ्चकमात्र भी ममत्व तथा कर्तृत्व-अभिमान नही होता। अतः ऐसे दैवी नैसर्गिक शुभ कर्मों को जो फलासक्ति एवं अभिमान भावना से बिलकुल रहित होते है, भगवान् जी 'यज्ञ' के नाम से पुकारते है। कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसे समस्त कर्म यज्ञमयी होते है। ऐसे कर्मों से साधक का अन्तःकरण तो बिल्लौर के शीशे की भांति बिलकुल स्वच्छ, निर्मल एवं विमल होता ही है, साथ-ही-साथ उसके क्रियमाण एवं संचितकर्म भी सदा-सदा के लिये भस्मीभूत हो जाते हैं। अब वह अपने इष्टदेव भगवान्‌जी के दिव्य एवं देव-दुर्लभ दर्शनों का अधिकारी बन जाता है। संस्कारो के भस्मीभूत हो जाने के कारण अब वह अहोभाग्यशाली प्रभु-भक्त इस संसार के विचित्र अति विचित्र आवागमन के चक्कर से छूटकर सदा-सदा के लिये अपने प्रभु की सत्ता मे विलीन होकर कृत-कृत्य हो जाता है। अतः भगवान्‌जी अपने प्रेमी भक्तों को यज्ञार्थ कर्म करने की इस उक्त श्लोक में प्रेरणा देते हुए कह रहे हैं—

'यज्ञार्थ करते कर्म उनके सर्व कर्म विलीन हों।'

अमल यज्ञ की खातिर करे जो सदा,
तो कर्म उसके होते है सारे फ़ना। *

(६४)

दूर हुआ अब भ्रम, सब कुछ यह तो ब्रह्म-ही-ब्रह्म ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

गीता—४/२४

अर्थ—जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है ।

प्रिय गीता-पाठक !

निःसन्देह, बड़ा विचित्र एवं अद्भुत है यह संसार ! यदि मैं इस संसार को कौतुकालय (Museum) कह दूं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इतनी भिन्नता, पृथकता एवं विलक्षणता है इस सृष्टि में कि कुछ कहते नहीं बनता ! अपने ही परिवार में देखें तो इतने निकटतम और प्रियतम माता-पिता के स्वभाव मे बड़ा अन्तर दिखाई देता है । यही दशा दो सहोदरा बहनों में एवं

दो सहोदर भाइयो में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। एक ही माता-पिता के बच्चे होते हुए भी वेश-भूषा में, व्यवहार में, विचारधारा में, रहनी-सहनी मे तथा हाव-भाव मे आकाश-पाताल-सा अन्तर दिखाई देता है। एक ही परिवार में रहते हुए और एक ही पिता की कमाई खाते हुए भी किसी का स्वभाव शीतल है तो किसी का ज्वाला जैसा। सचमुच, कोई अपने स्वभाव से 'शीतल-प्रसाद' है तो कोई अन्य इसके विपरीत 'ज्वाला-प्रसाद'। समाज मे भी हम देखते है कि कोई उदार है तो कोई अनुदार, कोई हँसमुख और कोई गम्भीर मुद्रा वाला। कोई जल की भाँति रुपया खर्च करने वाला और कोई पैसे-पैसेके लिये लड़ाई-झगड़ा मोल लेने वाला। किसी की वाणी में कितनी मधुरता सुनाई देती है और दूसरे की वाणी में इतनी कटुता है कि बिना छुरी के ही दूसरे के हृदय को काट देती है। कोई बलिदान का पुतला तो कोई स्वार्थ का पुतला। कोई देने मे प्रसन्न है तो कोई ग्रहण करने में।

—परन्तु—

इतनी भिन्नता एव पृथकता होते हुए भी यदि शरीर, मन एवं बुद्धि के भाव से उठ कर समाधिस्थ-

अवस्था मे अनुभव किया जाये तो सब के भीतर एक ही ब्रह्म (नारायण) विराजमान हैं। बाह्यरूप से भले ही आश्चर्यजनक विलगता एव पृथक्ता क्यों न दिखाई दे परन्तु आन्तरिक रूप से एव सत्ता रूप से समानता-ही-समानता है। यदि मैं थोडे ही शब्दो में कहना चाहूँ तो कह सकता हूँ कि प्रकृति में विषमता परन्तु यथार्थ सत्ता में समता है।

हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज इस पृथकता एव भिन्नताके पर्देको दूर हटाकर साधकको इस रहस्य से अवगत करा रहे है कि सारी सृष्टिमे उसे ऐड़ी-चोटी का जोर लगा कर तथा निरन्तर साधनरत होते हुए यह शीघ्रातिशीघ्र अनुभव कर लेना चाहिये कि अनेकता, पृथक्ता, विलगता, भिन्नता, इत्यादि सब-के-सब भ्रम हैं, मिथ्यात्व हैं। यथार्थ सत्ता तो बुदबुदो में जल की तरह, मिट्टी के बर्तनो मे मिट्टी की भाँति तथा स्वर्ण के आभूषणो में स्वण की नाई वही एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। ऐसा अनेकता में एक के विषय में निर्णय करने वाला, विचार करने वाला एवं अपना दैनिक व्यवहार इसी अनुरूप बनाने वाला, देर चाहे सवेर, उसी एक ब्रह्म का निर्विकल्प समाधि मे अपरोक्ष अनुभव करने में सुचारु रूप से सफल हो जाता है क्यो

कि दैवी प्रकृति का यह अटल नियम है :—

'जैसा सोचोगे, वैसा बनोगे।'

नाम-रूपों को सत्य समझ कर उनके विषय में आजीवन सोचने वाला बारम्बार आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है परन्तु यथार्थ सत्ता—'नारायण' के विषय मे चिन्तन करने वाला अन्त मे सदा-सदा के लिये 'नारायण' में एकमेक हो जाता है। अतः हमारे जगद्गुरु भगवान्जी यह शङ्खनाद (उद्घोषणा) कर रहे हैं:—

'ब्रह्मैव तेन गन्तव्य ब्रह्म कर्म समाधिना'

—अर्थात—

'सब कर्म जिसके ब्रह्म,
करता प्राप्त वह जन ब्रह्म है।'

—अतः—

सोचो, समझो और करो।

(६५)

※ परोपकारी—प्रभु-अधिकारी ※

—❀❀—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

गीता—४/३१

अर्थ—हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिये तो यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है ?

-अर्थात्-

'जो यज्ञ का अवशेष खाते, ब्रह्म को पाते सभी ।'
परलोक तो क्या, यज्ञ-त्यागी को नहीं यह लोक भी ॥'

—❀❀—

मरना भला है उसका जो अपने लिये जिये ।
जीता है वो जो मर चुका इन्सान के लिये ॥

बड़भागी गीतानुयायी साधक !

निःसन्देह, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रह कर ही इसे अपने प्रारब्ध कर्मों को सम्पूर्ण करना होता है। समाज में रह कर एवं कर्मोंके

आदान-प्रदान से इसे अपने अन्तःकरण को सस्कारो से शून्य करना ही होगा। प्रायः यह देखा गया है कि प्रत्येक मानव दूसरो से अपने स्वार्थ को पूरा करवानेकी उत्कट अभिलाषा अथवा इच्छा रखता है। अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये यह उचित-अनुचित समय का भी ध्यान न रखते हुए अनेको के पास जाने मे रञ्चक-मात्र भी झिझकता नही। स्वार्थ मानो भूत की तरह इसके सिर पर सवार रहता है। २०वी शताब्दीके इस विचित्र मानव को इसके लिये पता नही कितने पापड़ बेलने पडते हैं। एक के स्वार्थ को पूरा करने के लिये अनेकों को अपना समय, धन लगाना पड़ता है और नाना प्रकार के कष्टोके साथ जूझते हुए आकाश-पाताल एक करना पड़ता है। पता नही यह विचित्र एवं कौतुकी मानव कब समझेगा कि यदि उसे अपने इष्ट स्वार्थों को शीघ्रातिशीघ्र दूसरों से पूरा करवाना ही है तो अपने सुखो को छोड कर दूसरो से स्वार्थ को पूरा करने में उसे स्वय भी अनिवार्य रूप से जुट जाना होगा। प्रकृति माँ का यह अटल नियम है—

'जैसा बोओगे वैसा काटोगे'

—❀❀—

'जो दोगे सो लोगे'

कितनी हास्यास्पद बात है कि आज का यह स्वार्थी मानव अपना स्वार्थ तो पूरा करवाना चाहता है परन्तु दूसरों के स्वार्थों को पूरा करने में इसके पाँव मन-मन भारी हो जाते हैं। इसीलिये वह हर समय हताश, उदास एवं निराश दिखाई देता है।

हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज अपने प्रिय एवं वल्लभ भक्त को उत्तम एवं लाभप्रद मन्त्रणा देते हुए समझा रहे हैं कि जो बड़भागी एवं त्यागी मानव अहर्निश दूसरो के उपकार करने में जुटा रहता है और अपने स्वार्थ की ओर रञ्चकमात्र भी दृष्टिपात नही करता, वह सचमुच, साधारण मानव न हो कर देवतुल्य ही माना जाता है। अजी नहीं, सच पूछो तो वह इस वसुन्धरा का चाँद है! अतः अपने परम हितैषी भगवान्‌जी के इस उपदेश एवं आदेश को शिरोधार्य करते हुए हमें अपना जीवन यथामति एवं यथाशक्ति 'सर्वहिताय एवं सर्वसुखाय' व्यतीत करने के लिये इसी क्षणसे दृढ़ सङ्कल्प कर लेना चाहिये क्योंकि भगवान्‌जी को परोपकारी भक्त ही अतिप्रिय है। भक्त का अपनी बुद्धि, मन, तन एवं सर्वस्व जनता-जनार्दन की सेवा में लगा देना मानो प्रभु को अपने हृदय में सदा-सदा के लिये बैठा लेने का बहुत ही उत्तम एवं

सरल साधन है। इसीलिये भगवान्‌जीने ५वें एवं १२वें अध्याय में दुहराते हुए अपने श्रीमुखसे कहा है कि मेरा भक्त वह है जो—

'सर्वभूतहिते रताः'

—अर्थात्—

(सब प्राणियों के हित में लगा हुआ)

का साकार रूप बन जाये। फलतः इस उक्त श्लोक द्वारा भगवान्‌जी कह रहे हैं कि ऐसे परोपकारी तथा सर्वहितकारी मेरे भक्तजन शरीर छोड़ने के पश्चात् मुझे ही प्राप्त होते हैं तथा स्वार्थी एवं कृपण व्यक्ति दोनो लोको से मारे जाते हैं अर्थात् न वे अपना यह लोक बना कर जाते हैं और न ही परलोक। अतः गीतानु-यायी होने के नाते यह आवश्यक ही नही अपितु अनि-वार्य हो जाता है कि हम अपना अवशेष जीवन मनसा-वाचा-कर्मणा एक हो कर परोपकार मे सहर्ष एवं उत्साहपूर्वक व्यतीत करें। दयालु एवं कृपालु प्रभु हमे इस दिव्य-सङ्कल्प को पूरा करने के लिये विशेष शक्ति प्रदान करें!

जय भगवत् गीते!

(६६)

'कर्म की चरम-सीमा, ज्ञान का प्रारम्भ'

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।

गीता—४/३३

(अर्थं पार्थमात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं।

ऐ गीतानुयायी प्रिय गीता-पाठक !

मरना भला है उसका जो अपने लिये जीये ।
जीता है वो जो मर चुका इन्सान के लिये ॥

भले ही कोई भक्त बने चाहे उच्चकोटि का ब्रह्म-ज्ञानी बन जाये, चाहे प्राणायाम परायण हुआ-हुआ चोटी का योगी बन जाये परन्तु इन नाना प्रकार के योगों में प्रवीण एवं पारङ्गत होने के लिये अनिवार्य एवं अपरिहार्य रूप से जनता-जनार्दन के कल्याण के लिये निष्काम कर्मयोगमें प्रत्येक जिज्ञासु, मुमुक्षु, साधक भक्त एवं भावी ब्रह्मज्ञानी को लगना ही होगा। जी हाँ, अवश्यमेव कर्मयोग में जुटना ही होगा। इसके अतिरिक्त उच्चकोटि के योगी बनने का और कोई मार्ग नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह कि निष्काम

कर्मयोगी की पगडंडीको पकड़ते हुए ही भक्तियोग एवं ज्ञानयोग के ऋषि-मार्ग पर पग रखना होगा। इसके अतिरिक्त न कोई चारा है, न गुजारा है और न ही कोई दूसरा उपाय ही है। (No alternative and no other way out.)

तनिक गम्भीरतापूर्वक इस विषय पर चिन्तन करें तो यह बात ही नही अपितु सिद्धान्त अनुभव होने लगेगा। सचमुच, सिद्धान्त भी यही है कि किसी भी योग को कमाने वाला साधक सर्वप्रथम निष्काम कर्म-योगी बनकर अपने अन्तःकरण पर पड़े हुए जन्मो से कुसंस्कारोंको जबतक भस्मीभूत नही कर लेता तबतक न भक्ति हो सकती है और न ही ज्ञानके उच्चकोटिके शिखर पर पहुँचा जा सकता है। निष्काम कर्मयोग से साधक अपने अन्तःकरण को न केवल निर्मल करने मे सफल मनोरथ होता है अपितु हल्के कुत्ते की भाँति पीछे पडे हुए अभिमान से छुटकारा पा लेता है। निष्काम कर्म-योग से जिज्ञासु नकारात्मक वृत्तियोसे विशेषकर ममता एवं आसक्ति से सदा-सदा के लिये छूटकर मानसिक विक्षेपता को दूर कर सकता है। ज्यो-ज्यो निष्काम कर्म में साधक अग्रसर होगा त्यो-त्यो उसका मन उत्त-रोत्तर निर्मल होता हुआ पवित्रता लाभ करेगा। भाव-

सिक पवित्रता, शुद्धता, निर्मलता एवं विमलता को प्राप्त कर लेने के पश्चात् मन विक्षेपता को छोड़ता हुआ एकाग्र होने लगता है। तब, केवलमात्र तब ही वह निष्ठ एवं स्थिर चित्त होकर अपने इष्टदेव की भक्ति में अपने-आपको सुचारु रूप से सराबोर कर सकता है।

भक्ति की चरम सीमा ज्ञान का प्रारम्भ माना जाता है। इस उच्चकोटि की अवस्था तक मानसिक वृत्ति को लाया तो किसने ? बात बिलकुल सुस्पष्ट हो चुकी है—निष्काम कर्मयोग ने। क्योंकि निष्काम कर्मयोग से ही मन संस्कार रहित हुआ, संस्कार रहित मन पवित्र हुआ, पवित्र मन ही एकाग्र हुआ, एकाग्र मन ध्यान का अधिकारी बना और ध्यानावस्था का अधिकारी अब ही उच्चकोटिके ज्ञानको प्राप्त कर सका।

—फलतः—

इसका निष्कर्ष यह निकला कि कर्मयोग बीज है तो ज्ञानयोग उस बीज की पकी हुई खेती। अतः हमारे जगद्गुरु भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज उपरोक्त श्लोक द्वारा इस रहस्य को प्रगट करते हुए अपने श्री-मुख से फ़रमा रहे है—

'सर्वम् कर्म अखिलम् पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।'

—अर्थात्—

'सर्व कर्म का नित ज्ञान में ही पार्थ! पर्यवसान है।' ❀

(६७)

* ज्ञान की आस—गुरु के पास *

—✿—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
गीता—४/३४

अर्थ—उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भली-भांति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्मतत्त्व को भली-भांति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे।

—अर्थात्—

जो ज्ञानी हैं तू उनकी ताजीम कर,
हसूल उनसे उरफा की तालीम कर।
समझ उनसे सब कुछ वा-इज्ज-ओ न्याज,
तू कर उनकी सेवा तू सीख उनसे राज॥

ऐ मोक्षानुगामी गीता-पाठक!

जो बात दवा भी न कर सके,
वो बात दुआ से होती है।

जब कामल मुर्शिद मिलता है,
तो बात ख़ुदा से होती है ॥

—※※—

निशाँ मन्ज़िल का मिलता है किसी मुर्शिद के हीले से।
मुश्किलें आसान होती हैं वसीले से ॥

हबीब ! अपने मुर्शिद का दामन पकड़ ले।
ख़ुदा तक पहुँचने का रस्ता यही है ॥

संसार की यथार्थता से अनभिज्ञ होने के कारण जन्म-जन्मान्तरों तक मानव ऐहिक विषय-भोगों की दलदल में ही धँसा रहता है। परन्तु अनेक जन्मों के पुण्य-पुञ्ज एक जन्म में जब उदय होते हैं तब उसे विदित होता है कि ये विषय-भोग तो दुःखोंके हेतु ही हैं। अतः अब वह वस्तु-सापेक्ष सुख (objective happiness) से दामन छुडाकर आत्म-निष्ठ सुख (Subjective happiness) की प्राप्ति के लिये अपने-आपको लगा देता है। स्मरण रहे—आत्मनिष्ठ सुख की प्राप्ति आत्मज्ञान के बिना हो ही नहीं सकती और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य एवं अपरिहार्य हो जाता है कि ज्ञानार्थी साधक अपने समय के उच्चकोटि के ब्रह्मज्ञानी एवं तत्त्वदर्शी महापुरुष के सान्निध्य में रह कर ब्रह्मविद्या ग्रहण करे

और उसी ब्रह्मविद्या को अपने जीवन में व्यावहारिक रूप देकर उसका साकार रूप बन जाये। ज्ञान-प्राप्ति हेतु साधक को 'श्रीगुरुदेव जी' के पास जाकर किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये—गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण इसी रहस्य को प्रगट करते हुए विचाराधीन श्लोक मे तीन साधन बतला रहे हैं—

(१) तद्विद्धि प्रणिपातेन

(दण्डवत् प्रणाम करने से)

साधकको अत्यन्त विनम्र होना चाहिये। शाब्दिक रूप मे विनम्र हो जाने का अभिप्राय है अपने-आपको बूढे बापू की लाठी की नाईं तत्त्वदर्शी महात्मा के श्री-चरणों में गिरा कर पुकार उठना—

चरणों पर अर्पित है इसको चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है ठुकरा दो या प्यार करो॥

लाक्षणिक रूप मे विनम्र हो जाने का तात्पर्य है अपने अहङ्कार एवं देहाध्यास को मिटा कर मानसिक वृत्ति मे नम्रता ले आना। साधक को गुरुदेव के पास इस रीति से रहना चाहिये कि 'मेरा अस्तित्त्व कुछ भी नही है, मैं कुछ भी नही जानता' जैसी गुरुदेव आज्ञा करेंगे उसी को व्यावहारिक रूप देता जाऊँगा।'

'Translation according to Gurudev's dictation.

(२) परिप्रश्नेन

(प्रश्न करने से)

श्रद्धा, प्रेम, भक्ति एवं विनम्रतापूर्वक परमात्म-तत्त्व को जानने की तीव्र आकांक्षा से साधक द्वारा आत्मदर्शी महापुरुष से कुछ भी पूछना 'परिप्रश्नेन' कहलाता है।

(क) प्रकृति क्या है ?

(ख) सृष्टि के स्रष्टा कौन हैं ?

(ग) मेरा, प्रकृति और पुरुष (परमात्मा) के साथ क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि।

—आत्मज्ञान उपलब्धि विषयक शङ्काओं का ऋजु स्वभाव रखकर ज्ञान भण्डारी गुरुदेवजी से समाधान करवाना भी 'परिप्रश्नेन' के अन्तर्गत आता है।

(३) सेवया

(सेवा करने से)

अनुभवी महापुरुष के पास चिरकाल तक निवास करके हर प्रकार से उनको सुख पहुँचाने की चेष्टा करना 'सेवा' कहलाता है। स्मरण रहे—उनकी यथार्थ सेवा उनकी आज्ञा का पालन करने एवं उनके मुख-वचनामृत का श्रवण करके तदनुरूप जीवन-यापन करने में है, जैसा कि 'परम श्रद्धेय गुरुदेव ज्ञानसम्राट्

स्वामी रामतीर्थजी महाराज' कहा करते थे—

'Respect means to obey.

ज्ञानोपार्जन के हमारे शास्त्रकार तीन साधन बतलाते हैं—

(क) विद्या से (ख) धन से (ग) सेवा से

इन सबमे सेवा का साधन सर्वोत्तम माना जाता है। निष्काम भाव से की हुई सेवा साधक के लिये अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होती है क्योंकि इससे अन्तःकरण बिना विलम्ब निर्मल होने लग जाता है।

उपरोक्त साधनों मे युक्त होकर जब भी कोई श्रेयार्थी तत्त्वज्ञानी महापुरुष के पास जाता है, वे उसे आत्मज्ञान करवा देते हैं। सत्य ही है—जब बर्तन खाली होकर भरी हुई सुराही के समीप जाता है तो सुराही झुक जाती है और बर्तन को भर देती है। इसी प्रकार जब कोई भाग्यवान् एवं पुण्यवान् अहम-शून्य होकर ज्ञान-भण्डारी महापुरुष के सान्निध्य में जाता है तो वे उसे भी ज्ञान से भर देते हैं। कवि के अनमोल शब्दों में—

जही दस्तों का रुतबा एहल-ए दस्तों से ज्यादा है।
सुराही सर झुका देती है जब पैमाना आता है॥

जय भगवत् गीते!

(६८)

* ज्ञान प्राप्त—मोह समाप्त *

—❀❀—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

गीता—४/३५

अर्थ—इस (ज्ञान) को जान कर तू हे अर्जुन ! फिर ऐसे मोह को प्राप्त नहीं होगा और जिससे समस्त प्राणियों को तू अपने में तथा मुझ में देखेगा ।

—अर्थात्—

जो अर्जुन मिले ज्ञान उलझन हो दूर,
तो हो इस हकीकत का तुझ पर ज़हूर ।
कि सारा जहाँ है तेरी ज़ात में,
तेरी ज़ात यानी मेरी ज़ात में ॥

भो गीता-ज्ञान जिज्ञासु !

दिया अपनी खुदी को जो हमने मिटा,
वो जो परदा-सा बीच में था न रहा ।
रहे परदा में अब न वो परदानशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा ॥

सृष्टिकर्ता भगवान्‌जी ने मोह को ऐसी दूषित वृत्ति बनाई है जो जन्म-जन्मान्तरों से हलके कुत्ते की भाँति

जीव के पीछे पड़ी हुई है और उसे नोच-नोच कर खा रही है। इसी मोह के परायण होने के कारण मानव कंचन-कामिनी-कीर्ति का क्रीतदास बन जाता है और भूल जाता है कि इससे परे भी कुछ है। सन्त शिरोमणि 'गोसाईं तुलसी दासजी' लिखते हैं—

मोह सकल व्याधिन कर मूला।
तेहि ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

स्मरण रहे—जब भी मानव अज्ञानताके वशीभूत हुआ-हुआ शान्ति प्रदाता भगवान्‌जी से विमुख हो कर ऐहिक प्राणी-पदार्थों मे ही 'नित्य दृष्टि' एवं 'सुख दृष्टि' बना लेता है और परिणामस्वरूप इनका चिन्तन करने लग जाता है, इसी से उसके मन में उन विशेष प्राणी-पदार्थों के प्रति आसक्ति (Attachment) उत्पन्न हो जाती है। श्रीगीताजी के दूसरे अध्याय में हमारे जीवन पथ-प्रदर्शक गीतागायक भगवान् श्रीकृष्ण इस भाव को स्पष्ट कर चुके हैं :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते॥

गीता—२/६२

अर्थ :—विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है।

इसी मोह के कारण मानव दिन-प्रतिदिन पराधीन होता चला जाता है और आप जानते ही है :—

पराधीन सपनेहुँ सुख नाहिं।

सुख की आशा में जब उसे दु.ख-ही-दु.ख मिलते हैं, तब दुःखी होता, ठोकरे खाता, रोता और चिल्लाता हुआ वह सुख की सही दिशा खोजने लगता है। 'जहाँ चाह वहाँ राह' के अटल नियमानुसार उसे किसी अनुभवी महापुरुष की शुभ सङ्गत मिल जाती है। उनसे परोक्ष ज्ञान (Indirect knowledge) ले कर वह खूब योगाभ्यास करता है और भगवान् की विशेष अति विशेष कृपा से महापुरुषो द्वारा उपदिष्ट परोक्ष-ज्ञान से ही वह अपरोक्षानुभूति किंवा आत्मानुभव करने में सराहनीय एवं अनुकरणीय सफलता प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह कि परोक्ष ज्ञान अब अपरोक्ष ज्ञान (direct knowledge) में परिणत हो जाता है। इसी अवस्था में मोह सदा-सर्वदा के लिये उसके अन्तःकरण से निकल जाता है। एक बार आत्मानुभव हो जाने किंवा यथार्थता की पहचान हो जानेसे फिर जीव कभी भी मोह की निकृष्ट वृत्ति के अधीन नहीं होने पाता। अजी, मोह तो अज्ञानता में ही मन में अड्डे जमाता है। जैसे प्रकाश के अभाव में ही अन्धकार दिखाई देता है और अन्धकार में ही चोर, डाकू, उल्लू, चमगादड़, साँप, बिच्छू प्रभृति अपना सर उठाते हैं, प्रकाश होने

पर अन्धकार के सहित ये सब-के-सब मानो सर पर पांव रख कर भाग जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के अभाव में ही मोह अन्तःकरण में ठहरता है, तत्त्व-ज्ञान हो जाने पर फिर मोह जी महाराज की दाल कदापि-कदापि नही गल सकती। मोह के अन्त.करण में से निकलने के पश्चात् जीव का समस्त प्राणियो के प्रति शुद्ध प्रेम जाग्रत् हो जाता है। मोह के कारण से वह किन्ही विशेष-विशेष प्राणी-पदार्थों को ही चाहता था, जिनके साथ वह संलग्न था। परन्तु मोह न रहने पर सब प्राणियो में उसकी सम-दृष्टि बन जाती है। अपने अहंपने को वह सर्वव्यापी अपरिच्छिन्न परमात्म-सत्तामें मिला चुका होता है। फलतः समस्त संसार ही उसके लिये आत्म-भूत हो जाता है। अजी, संसार उसकी दृष्टि में रहता ही कहाँ है, वस्तुतः वह अपने से भिन्न किसी की सत्ता ही नही मानता। उसका रोम-रोम मानो वाणी का काम करता हुआ पुकार रहा होता है:—

आप ही आप हूँ ग़ैर का कुछ काम नहीं।
ज़ात-ए मुतलक मे मेरी शक्ल नहीं नाम नहीं॥

इसी अनुपमावस्था को देखते हुए हमारे जगद्गुरु गीताधारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज वक्ष्यमाण हो रहे है:—

'ज्ञान का उपदेश सुन कर
मोह नहीं फिर आयेगा ।
फिर तो तुम को मुझ में ही
यह सब जगत् मिल जायेगा ॥'

—※※—

※ गीता-गौरव ※

"गीता ग्रन्थ, वैदिक धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में वेद के समान, आज करीब ढाई हजार वर्ष से सर्वमान्य एवं प्रमाण स्वरूप हो रहा है, इसका कारण भी उक्त ग्रन्थ का महत्त्व ही है।"

—※※—

बाबा ! सांसारिक बुद्धि को सारथी बनाना तो दुःख-ही-दुःख पाना है। अब बात सुनो—फतह इसी में है कि अपनी मन रूपी बागडोर दे दो, दे दो उस कृष्ण के हाथ, बस, कोई खतरा नहीं। वह संसार रूपी कुरुक्षेत्र से जय के साथ ले ही निकलेगा। रथ हांकने में तो वह प्रसिद्ध उस्ताद है, आवश्यकता है हरि को रथ, घोड़े और बागें सौंप कर पास बिठावें की, अर्थात् उपासना की।"

—※※—

(६६)

* पापी को भी आश्वासन *

—**—

अपि चेदसि पापेभ्य. सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनम् संतरिष्यसि ॥

गीता–४/३६

अर्थ–यदि तू अन्य सब पापियो से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी तू ज्ञान रूपी नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्र से भली-भांति तर जायेगा ।

–अर्थात्–

जो पापी है या तू गुनाहगार है,
गुनाहगार बन्दों का सरदार है ।
तो फिर ज्ञान नैया पे हो जा सवार,
गुनाहों के सागर से कर देगी पार ॥

प्रिय गीता-ज्ञानेप्सु !

यह मोह माया कष्टमय तरना जिसे संसार हो ।
वह बैठ गीता-नाव मे सुख से सहज ही पार हो ॥

तू है दरिया रहमतां दा, भलियाँ-भुल्लियाँ तारदा ।
तां मैं जाणा बेड़ी तारें मैं जही बदकार दी ॥

गीता, सचमुच सब की दैवी माता (Divine-

mother) है। दुराचारी हो या सदाचारी, भोगी हो या योगी, खूनी हो किंवा मुनि, गुनाहगार या परस्तार नास्तिक अथवा आस्तिक, भक्त किंवा अभक्त—सर्व-कल्याणकारिणी गीता-भगवती ने वात्सल्यमयी माँ के समान सबको समान रूप से शरण दी है। विश्व वाङ्मय में श्रीगीताजी का यह अनुपम, अद्वितीय एवं अपूर्व उदाहरण है कि पापी-से-पापी, पतित-से-पतित निम्न-से-निम्न मानव भी गीता-माता की ज्ञान-गोद में बैठ कर अपना कल्याण कर सकता है अर्थात् अपने वर्तमान जन्ममें ही प्रभु-प्राप्ति करके कृतकृत्य हो सकता है। प्राचीन काल से ही समय इस तथ्य का साक्षी रहा है कि जिसने भी गीता को अपना आश्रय स्थान बनाया वह सुगमतापूर्वक इस संसार-सागर से परले पार पहुँच गया। एक साधारण मानव ही नही प्रत्युत घोर अत्याचारी, दुराचारी, स्वेच्छाचारी एवं कदाचारी भी गीता-ज्ञान नौका में सवार होकर भवसागर पार हो सकता है। इसीलिये तो गीतावक्ता भगवान् श्री-कृष्ण कह रहे हैं—

'तेरा कहीं यदि पापियों से घोर पापाचार हो।
इस ज्ञान नय्या से सहज में पाप-सागर पार हो॥'

प्रसंगानुसार सर्वप्रथम स्पष्ट कर देना अनिवार्य

होगा कि पाप की क्या परिभाषा है अथवा पाप किसे कहते है ? हमारे अपूर्व हिन्दू-दर्शन की साहसपूर्ण उद्घोषणा है कि बुद्धि का कोई भी ऐसा निर्णय, मन का ऐसा कोई भी विचार और तन द्वारा किये जाने वाला कोई भी ऐसा कर्म जिसको करने से जीव भगवान् से विमुख हो जाये अथवा उसकी मानसिक वृत्ति भगवान् से दूर होती जाये—वह 'पाप' है। स्मरण रहे—मन वे कहीं तो लगना ही है। जब वह भगवान् से विमुख होगा तो इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि संसार के उन्मुख हो जायेगा। बन्धुवर ! संसार नाम है—नाना प्रकार की नकारात्मक वृत्तियों का। अतः कौन-सा ऐसा पाप है जो सांसारिक व्यक्ति से नहीं होगा। हर समय उसके मन में कोई-न-कोई उद्वेग उठता रहेगा और इन्हीं उद्वेगों के अनुरूप वह दूषित कर्मों में ही उत्साह दिखाता रहेगा। भूल जाता है कौतुकी मानव इन दुष्कृत्यों का परिणाम दुःख, शोक, कष्ट एवं नाना प्रकार के असाध्य रोगोंके अतिरिक्त कुछ भी न होगा। फलतः जब उसके न चाहने पर भी अनेकानेक कष्ट उसके समक्ष उपस्थित हो जाते है तब कहीं जाकर वह प्रायश्चित करता है कि हाय ! मैं क्या करता रहा ?' बस ज्यों ही जीव अपने अन्तःकरणसे प्रायश्चित करता

है और दुराचारी से सदाचारी बननें की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न करता है, गीता, माता के समान हाथ पकड़ लेती है—क्यों घबराता है ?—

जो पापी है या तू गुनाहगार है,
गुनाहगार बन्दों का सरदार है।
तो फिर ज्ञान नैया पे हो जा सवार,
गुनाहों के सागर से कर देगी पार ॥

वाह, उदार चित्तता भी अपनी चरम सीमा को स्पर्श कर गई, जब कि घोर पापी व्यक्तिको भी निराशा में आशा की किरण मिल गई। यह श्रेय श्रीगीताजी को ही है, जो Hopeless को भी Hopeful बना कर उसे उत्थान की ओर अग्रसर कर देती है। जैसे नाव में बैठकर कोई भी मानव बिना किसी कष्ट एवं भय के अगाध जल-राशि को तैरता हुआ सुगमतापूर्वक परले पार पहुँच जाता है, ठीक इसी प्रकार गीता-ज्ञान का आश्रय लेकर महापापी मानव भी इस कौतुक-पूर्ण भवसागर से पार उतर जाता है।

आवश्यकता है मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर श्रीगीताजी की शरण ग्रहण करने की !

जय भगवत् गीते !

—**—

(७०)

* ज्ञान प्राप्त—संस्कार समाप्त *

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

गीता—४/३७

अर्थ—क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जला कर राख कर देती है, इसी तरह ज्ञान-अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है ।

—अर्थात्—

'अग्नि कर देता भस्म ईंधन को अर्जुन जिस तरह ।
ज्ञान अग्नि कर्म का है नाश करता इस तरह ॥'

प्रिय गीता-अन्वेषी !

ज्ञान से मिलती है आजादी यह राहत सर-बसर ।
वार कर फेंकू मैं इस पर दो जहां का माल-ओ जर ॥

ज्ञान की महिमा सचमुच अद्वितीय है । ब्रह्मज्ञानी एवं तत्त्वदर्शी महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को ले कर ही कल्याणकामी मानव संसार-बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है । यह श्रेय ज्ञान को ही है जो पापी, दुराचारी, भोगी एवं अत्याचारी मानव को भी पाप-मुक्त कर के सदाचारी एवं भगवद्भक्त बना देता है ।

ज्ञान के कारण से ही जीव को अपनी, प्रकृति की और परमात्माको यथार्थ जानकारी होती है और वह वास्तविकता की खोजके लिये कटिबद्ध हो जाता है। स्मरण रहे—ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—

* परोक्ष ज्ञान (Indirect knowledge)

* अपरोक्ष ज्ञान (Direct knowledge)

परोक्ष ज्ञान तो जीव किसी उच्चकोटि के शास्त्र किंवा अनुभवी एवं तत्त्वज्ञ महापुरुष के सान्निध्य में रह कर प्राप्त कर सकता है। परन्तु अपरोक्ष ज्ञान उसे स्वयं ही पुरुषार्थ कर के लेना होता है। कहने का अभिप्राय यह कि जब वह परोक्ष ज्ञान को लेकर उसके अनुसार दीर्घकाल तक बिना ऊबे हुए मनसे पूर्ण श्रद्धा, लगनता एवं तत्परता के साथ योगाभ्यास में जुट जाता है तब, केवलमात्र तब ही वह पवित्रता, एकाग्रता एवं ध्यानावस्था की मञ्जिलें तय करता निर्विकल्प समाधि का रसास्वादन करता हुआ आत्मानुभव की अनुपम अवस्था में अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने में सफल मनोरथ हो जाता है। इसी आत्म-ज्ञान की अग्निके साथ उपमा देते हुए ज्ञान भण्डारी गीताधारी भगवान् श्रीकृष्ण वक्ष्यमाण हो रहे हैं :—

यूं ज्ञान अग्नि में जाते हैं जल,

बुरे हों अमल या भले हों अमल।

इस दृष्टान्त द्वारा श्रीभगवान्‌जी ने स्पष्ट किया है कि जैसे अग्नि देवता बिना यह देखे कि लकड़ी पुरानी है या नई सब को जला कर भस्म कर देता है। इसी प्रकार आत्मज्ञान रूपी अग्नि के द्वारा सर्व प्रकार के शुभ-अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। कर्म तीन प्रकार के होते हैं :—

(क) सञ्चित,

(ख) प्रारब्ध और

(ग) क्रियमाण

जन्म-जन्मान्तरों से जो कर्म संस्कारो के रूप मे अन्त.करणपर एकत्रित हुए-हुए हैं—वे 'सञ्चित' कर्म है। इन्ही सञ्चित कर्म संस्कारों में से जो वर्तमान जन्म में फल देने के लिये प्रस्तुत हो जाते है अर्थात् जिनके कारण से हमारा यह जन्म हुआ है—वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं और जो कर्म अभी करने है अथवा जिन कर्मों को सम्पादित करने के लिये हम वर्तमान जन्म में उद्यत हुए-हुए है—वे 'क्रियमाण कर्म' की संज्ञा पाते है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर जन्म-जन्मान्तर से किये गये ये समस्त कर्म अपने संस्कारों एवं विकारों के सहित

भस्मीभूत हो जाते है। ठीक ही तो है—जब बीज को अग्नि में भून दिया जाता है, तब क्या उसमें अंकुरित होने की शक्ति रहती है?—कदापि-कदापि नही। इसी प्रकार जो भाग्यवान् मानव अपने 'देहाभिमान' अथवा 'कर्तृत्वपन' को तत्त्वज्ञानरूप अग्नि में होम कर डालता है, उसके कर्मों में किसी प्रकार का फल देने किंवा संस्कार डालने की शक्ति नही रहती। इस प्रकार वह तत्त्वज्ञानी समस्त संस्कारों से रहित हुआ-हुआ विचरता है और अन्त में मुक्त हो जाता है। याद रहेगा भगवान्‌जी का यह अनमोल दृष्टान्त सहित सिद्धान्त :—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

—अर्थात्—

'जिस तरह से लकड़ियाँ सब
अग्नि द्वारा खाक हों ।
इस तरह ही ज्ञान से
ये कर्म सारे राख हों ॥'

(७१)

★ ज्ञान की उत्कृष्टता ★

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

गीता—४/३८

अर्थ—इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्त:करण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मा में पा लेता है।

-अर्थात्-

'इस लोक में साधन पवित्र न और ज्ञान समान है।
योगी पुरुष पाकर समय पाता स्वयं ही ज्ञान है॥'

जब तलक अपनी समझ इन्सान को आती नहीं।
तब तलक दिल की परेशानी कभी जाती नहीं॥

—❀❀—

प्रिय गीता-मनीषी !

इन नाना प्रकार के गीताङ्कितयोगों का एकमात्र लक्ष्य है—अन्तःकरण की स्वच्छता एवं निर्मलता। क्योंकि जीवों के अन्तःकरण के स्तर में भिन्नता एवं विलक्षणता होती है। अतः हमारे दूरदर्शी एवं कृपा-

सिन्धु जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने श्रीगीताजी में कर्म, भक्ति एवं ज्ञान की अलौकिक एवं दिव्य पतितपाविनी त्रिवेणी बहा दी। योग का नव-आगुन्तक साधक सर्वप्रथम निष्काम कर्मयोग के द्वारा अन्तःकरण पर पड़े हुए जन्म-जन्मान्तरों के मल अर्थात् विभिन्न प्रकार के संस्कारों को दूर करने के लिये अह-र्निश प्रभु-परायण होकर जुटा रहता है। कुछ वर्षों के पश्चात् इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज की अपरम्पार कृपा से उसके अन्तःकरण के मल की गाँठ खुल जाती है और संस्कार सदा-सदा के लिये भस्मी-भूत हो जाते हैं। इसके पश्चात् अब वह भक्तियोग की साधना करने का अधिकारी बन जाता है। कारण कि इस सराहनीय अवस्था में उसकी विक्षेपता काफ़ूर हो कर उसके स्थान पर एकाग्रता अपना साम्राज्य स्था-पित करने लगती है। अब दिन-प्रतिदिन वह अपने इष्टदेव के स्मरण, भजन तथा महामन्त्र के जाप में सराबोर होता चला जाता है। कुछ समय के पश्चात् ही वह भक्ति किंवा उपासना अथवा आराधना की उच्चकोटि की अवस्था को स्पर्श कर लेता है। इस अव-स्था में अब वह 'दासोऽहम्' से 'सोऽहम्' का अनुभव करने लगता है। ज्ञान की इस उच्चकोटि की अवस्था

को सम्यक् प्रकार से अनुभव कर लेने के पश्चात् अब वह यह अनुभव करने लगता है कि सब प्रकारके कर्मों के संस्कार यथा—क्रियामाण, प्रारब्ध एवं संचित, जितने शीघ्र ज्ञानयोग से दग्ध होते है उतने शीघ्र किसी और साधन से नही। इसी ज्ञानसे ही वह अपनी हृदय की तीन गाँठो यथा—अविद्या, काम, कर्म तथा अन्तःकरण के तीन दोषों यथा—मल, विक्षेप, आवरण को सदा-सदाके लिये दूर हटा देता है और बिना विलम्ब अपनी शुद्ध एवं सुपरिष्कृत मानसिक वृत्ति को निर्विकल्प समाधि मे तल्लीन हुआ-हुआ पाता है। इस अवस्था मे वह पूर्णकाम एवं आप्तकाम हो कर सदा-सर्वदा के लिये कृतकृत्य हो जाता है। इस अति मधुर एवं ज्योतिर्मय अवस्था मे स्थित हुआ अब वह निःसन्देह पुकार उठता है—

न हि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रम् इह विद्यते !

न हि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रम् इह विद्यते !!

न हि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रम् इह विद्यते !!!

प्रिय गीता-पाठक ! कृपया इसे पुनः पुनः स्वाध्याय कीजिये, समझिये और इस उच्चकोटि की अवस्था को प्राप्त करने की भरसक चेष्टा कीजिये।

हार्दिक शुभ भावना !

(७२)

★ श्रद्धा में चमत्कारिक शक्ति ★

अर्थात्—श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है।

—※—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानम् लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

गीता—४/३९

—अर्थ—

जितेन्द्रिय, साधन-परायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

प्रिय गीतानुयायी भाग्यशाली पाठक !

(क) भरोसे का इन्सान निकल जायेगा,
पहाड़ उसके रस्ते से टल जायेगा।

(ख) श्रद्धा जो वीरों की ढलने लगे,
तो पश्चिम से सूरज निकलने लगे।

(ग) अगर कामयाबी का हो दिल में जोश,
यकीं से भर लो खूब अपने होश।

निःसन्देह, इस मर्त्यलोक में रहने वाला मानव श्रद्धा का पुतला है। श्रद्धा के बिना तो किसी का एक

पग रखना भी नितान्त असम्भव है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिये सर्वप्रथम उसके प्रति यह श्रद्धा का भाव स्वाभाविक रूप से उदय हो जाता है कि इस कार्य को पूरा किये बिना पटेगी नहीं अर्थात् इस कार्य का करना अनिवार्य है अन्यथा मेरा भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा। इस प्रकार की निष्ठा जब मनःपटल पर अङ्कित हो जाती है तब, केवलमात्र तब ही यह कर्मशील मानव उस विशेष कार्य को पूरा करने के लिये नाना प्रकार की योजनायें बनाने लग जाता है या यों कह लीजिये कि उस कार्य को पूरा करने के तत्सम्बन्धी साधन ढूंढने में अहर्निश जुट जाता है। प्रकृति का यह अटल नियम है कि यदि कोई किसी भी कार्य को शीघ्रातिशीघ्र सफल किया चाहता है तो उसे अटूट एवं अविचल विश्वास के साथ उसमें जुट जाना चाहिये। स्मरण रहे—यदि श्रद्धा एव विश्वास अटल रहेगा तो वह कार्य बिना विलम्बके पूरा हो ही जायेगा। यह सूक्ति हम बाल्यकाल से ही सुनते आ रहे हैं—

'जहाँ चाह-वहाँ राह'

हमारे परम हितैषी जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज इस श्रद्धा के प्रसंग में अपने श्रीमुख से दिव्य-प्रेरणा देते हुए फ़रमा रहे हैं कि भगवान् जो

द्वारा अर्जुन को दिये गये उच्चकोटि के स्तुत्य, उपादेय एवं अभिनन्दनीय ज्ञान को प्राप्त करने के लिये मुख्य एवं अनिवार्य रूप से सर्वप्रथम गीतानुयायी के मन में गीतागायक एवं श्रीगीता जी के प्रति अविचल श्रद्धा उत्पन्न हो जानी चाहिये अर्थात् यह शुद्ध, पवित्र एवं अत्यन्त मङ्गलकारी भाव सम्यक् रूप से अन्तःकरण पर गहरा उतर जाना चाहिये कि—

(क) भगवान्‌जी की वाणी को अपनाये बिना मेरे लोक और परलोक किसी भी दशा में सुधर न पायेंगे।

(ख) इस वाणी को जीवन में उतारे बिना मेरे कल्याण की और कोई राह हो ही नही सकती।

(ग) मेरी मानसिक प्रकृति, स्वभाव एवं सतोगुणी संस्कारों के अनुरूप केवलमात्र गीताजी का उपदेश ही उपयुक्त है अन्य कोई भी वाणी मेरे अनुकूल नहीं बैठती।

(घ) श्रीगीताजी के साथ मेरा सम्बन्ध सचमुच, इसी जन्म से ही नहीं अपितु गत कई जन्मों से चलता आ रहा है। अतः मैं इस उपदेश को किसी भी मूल्य पर त्याग नही सकता।

(ङ) मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे शरीर को

पग रखना भी नितान्त असम्भव है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिये सर्वप्रथम उसके प्रति यह श्रद्धा का भाव स्वाभाविक रूप से उदय हो जाता है कि इस कार्य को पूरा किये बिना पछैयो नहीं अर्थात् इस कार्य का करना अनिवार्य है अन्यथा मेरा भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा। इस प्रकार की निष्ठा जब मनःपटल पर अङ्कित हो जाती है तब, केवलमात्र तब ही यह कर्मशील मानव उस विशेष कार्य को पूरा करने के लिये नाना प्रकार की योजनायें बनाने लग जाता है या यों कह लीजिये कि उस कार्य को पूरा करने के तत्सम्बन्धो साधन ढूंढने में अहर्निश जुट जाता है। प्रकृति का यह अटल नियम है कि यदि कोई किसी भी कार्य को शीघ्रातिशीघ्र सफल किया चाहता है तो उसे अटूट एवं अविचल विश्वास के साथ उसमें जुट जाना चाहिये। स्मरण रहे—यदि श्रद्धा एवं विश्वास अटल रहेगा तो वह कार्य बिना विलम्बके पूरा हो ही जायेगा। यह सूक्ति हम बाल्यकाल से ही सुनते आ रहे हैं—

'जहाँ चाह-वहाँ राह'

हमारे परम हितैषी जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज इस श्रद्धा के प्रसंग मे अपने श्रीमुख से दिव्य-प्रेरणा देते हुए फ़रमा रहे हैं कि भगवान् की

द्वारा अर्जुन को दिये गये उच्चकोटि के स्तुत्य, उपादेय एवं अभिनन्दनीय ज्ञान को प्राप्त करने के लिये मुख्य एवं अनिवार्य रूप से सर्वप्रथम गीतानुयायी के मन में गीतागायक एवं श्रीगीता जी के प्रति अविचल श्रद्धा उत्पन्न हो जानी चाहिये अर्थात् यह शुद्ध, पवित्र एवं अत्यन्त मङ्गलकारी भाव सम्यक् रूप से अन्तःकरण पर गहरा उतर जाना चाहिये कि—

(क) भगवान्‌जी की वाणी को अपनाये बिना मेरे लोक और परलोक किसी भी दशा में सुधर न पायेंगे।

(ख) इस वाणी को जीवन में उतारे बिना मेरे कल्याण की और कोई राह हो ही नहीं सकती।

(ग) मेरी मानसिक प्रकृति, स्वभाव एवं सतोगुणी संस्कारों के अनुरूप केवलमात्र गीताजी का उपदेश ही उपयुक्त है अन्य कोई भी वाणी मेरे अनुकूल नहीं बैठती।

(घ) श्रीगीताजी के साथ मेरा सम्बन्ध सचमुच, इसी जन्म से ही नहीं अपितु गत कई जन्मों से चलता आ रहा है। अतः मैं इस उपदेश को किसी भी मूल्य पर त्याग नहीं सकता।

(ङ) मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे शरीर को

जल एवं भोजन मिले या न मिले परन्तु इस गीता मे अङ्कित ब्रह्मविद्या रूपी आध्यात्मिक एवं मानसिक भोजन के विना तो मैं एक दिन भी जीवित नही रह सकता।

(च) जैसे शरीर और प्राण अभिन्न माने जाते हैं इससे भी कही अधिक गीताजी के साथ मेरे मन और बुद्धि का सम्बन्ध हो चुका है।

(छ) अब तो अनजाने रूप में मेरे भीतर-ही-भीतर अनायास रूप से 'जय भगवत् गीते', 'जय इष्ट-देव' की ध्वनि निकलती रहती है।

(ज) भले ही कोई इसको अतिशयोक्ति कहकर ठठोली करे परन्तु भगवान् साक्षी हैं, सूर्य भले ही अपनी उष्णता को छोड़ दे, चन्द्रमा शीतलताका त्याग कर दे, पवन देवता सर-सर करके चहुँ ओर भागना-दौड़ना बन्द कर दे परन्तु मैं श्रीगीताजी का सुनना, पढ़ना, मनन करना तथा जीवन मे पूर्णरूपेण उतारना कदापि-कदापि भूल नही सकता! कभी भी भूल नही सकता!! ऐसी मूर्खता अब मुझ से किसी भी मूल्य पर सहन न हो सकेगी!!!

सचमुच, गीता मेरी 'Guide' है 'Friend' तथा 'Philosopher' है। अजी नही, सच पूछो तो यह

मेरी जान है, प्राण है और ईमान (धर्म) है।

इसे ही सराहनीय एवं अनुकरणीय श्रद्धा एवं निष्ठा कहते हैं। ऐसी श्रद्धा के उत्पन्न हो जाने से कोई भी अहोभाग्यशाली साधक भगवान्‌जी के इस गीता-ज्ञानको प्राप्त करने में सुचारु रूप से सफल मनोरथ हो सकता है। इसीलिये तो कहा जाता है—

'Faith works miracle.'

—अर्थात—

(श्रद्धा में चमत्कारिक शक्ति है।)

एक भारतीय कवि इस विषय में क्या ही सुन्दर लिखता है—

गुलामी में न काम आती हैं तकदीरें न तदबीरें।
जो हो जौक-ए यकीं पैदा तो कट जाती हैं जंजीरे॥

निःसन्देह, श्रद्धा में बहुत बड़ी शक्ति छिपी हुई है। श्रद्धालु जो चाहे, जैसा चाहे कर दिखाता है।

—क्योंकि—

अटूट श्रद्धालु व्यक्ति के साथ सर्वशक्तिमान् एवं सर्वसमर्थ भगवान्‌जी की अलौकिक एवं दिव्य-शक्ति सम्मिलित हो जाती है।

प्रिय पाठक! क्या आप भी अपनी श्रद्धा को

श्रीगीताजी एवं गीताधारी भगवान् जी के प्रति ऐसी बना सकेंगे ? स्मरण रहे—बिना अविचल श्रद्धा के भगवान्जी का ज्ञान कभी भी प्राप्त न हो सकेगा। इसीलिये तो प्रभुजी जोरदार शब्दों में अपनी गीताजी में फ़रमा रहे हैं—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् !
श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् !!
श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् !!!

जय भगवत् गीते !

—**—

* गीता-गौरव *

"गीता जिज्ञासु को ज्ञान की इतनी ऊंची भूमिका पर पहुँचा देती है जहाँ कि वह भगवान् को आत्मा में तथा जगत् में देखने लगता है और सबके अन्दर रहने वाले परमात्मा में एकीभाव से स्थित हो जाता है।"

—**—

"गीता का प्रत्येक शब्द दहकता हुआ अङ्गारा है, यह जहाँ पड़ता है, पाप, ताप, भय और द्वन्द्वों के ढेर को भस्म कर देता है।"

—**—

(७३)

* श्रद्धा के अनुसार तत्परता *

—❀❀—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

गीता—४/३९

अर्थ—जितेन्द्रिय, साधन-परायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त हो कर वह बिना विलम्ब के—तत्काल ही भगवत्-प्राप्ति रूप परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

-अर्थात्-

'जो कर्म तत्पर है जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् है ।
वह प्राप्त कर के ज्ञान पाता शीघ्र शान्ति महान् है ॥'

—❀❀—

प्रिय गीता-मनीषी !

गत 'गीतोपदेश' के अङ्क में हमने ज्ञान प्राप्ति की मुख्य विशेषता गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज के अनमोल कथनानुसार 'श्रद्धा' पर विचार-विमर्श किया । अपने इष्टदेव का यह कथन जो गीता-अनुयायियोके लिये लोकोक्ति बन कर रह गया है—

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'

कभी भी भुला न पायेंगे। यहां 'सत्सङ्ग भवन'में आने वाले श्रद्धालु श्रोताओं का तो यह वाक्य तकिया-कलाम (मुंह चढ़ा विषय) बन चुका है। हो सकता है मन के बहकावे में आ कर थोड़ी श्रद्धा को हम अधिक मानते हुए अपनी भूल से फूलते रहें और अपने-आपको व्यर्थ में इस अध्यात्म-पथ का 'तीस-मारखां' समझते रहें, अतः हमारे मे भगवान्‌जी की वाणीके प्रति उचित एवं उपयुक्त श्रद्धाका कोई ठोस प्रमाण (Solid proof) भी होना चाहिये। सर्वज्ञाता भगवान्‌जी इस विशेष सम्भावित प्रश्न का उत्तर अपने इसी श्लोक के बीच मे ही दे रहे हैं। हां, यथार्थ श्रद्धालु वह है जो श्रद्धानुसार अहर्निश अपने जीवन मे इस उपदेश को क्रियान्वित करने के लिये जुट गया है अर्थात् भगवान्‌जी के अनमोल उपदेशानुसार अपने जीवनको दिव्य बनाता चला जा रहा है।

अज्ञानता के कारण हमारे अन्तःकरण पर मल, विक्षेप एवं आवरण चिरकाल से ही टिके रहने के फलस्वरूप हम अपने मन को पूर्णरूपेण अपने अन्तर्यामी भगवान्‌जी में तल्लीन नही कर पाते। अतः पक्के एव सच्चे श्रद्धालुओं के लिये यह आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य भी हो जाता है कि अन्त करणके

इन्हीं दोषोंको दूर करने के लिये भागीरथ प्रयत्न करने में कटिबद्ध हो जायें।

स्मरण रहे—अन्तःकरणका मल जब भी उतरेगा, उतरेगा निष्काम कर्मयोगसे। इस कर्मयोगको बड़ी श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक एक लम्बे समय तक करना होगा। तब कहीं जा कर हमारा मन 'मल'रूपी दोष से सदा-सर्वदा के लिये छूट सकेगा।

अब रही बात विक्षेपता'रूपी दूसरे दोष की—वह बिना अनन्य-भक्ति की कमाई के उतर ही नहीं सकता। हमें विक्षेपता के मल को भस्मीभूत करने के लिये अपरिहार्य रूप से किसी एकान्त स्थान का सेवन करते हुए कुछ वर्षों तक अपने इष्टदेव की भक्ति में जुट जाना होगा।

'आवरण' का तीसरा मानसिक दोष बिना ज्ञानके उतर ही नहीं सकता।

—फलतः—

हमें पूर्ण श्रद्धा से काम लेते हुए बिना ऊबे हुए मन से एक लम्बे समय तक भगवान्‌जी के अनमोल कथनानुसार साधनामें तत्परता दिखानी होगी, दिखानी ही होगी। यही धार्मिक तत्परता ही तपस्या के नाम से पुकारी जाती है। प्रभु के श्रीचरणों में यही प्रार्थना है

कि वे हमें विशेष शक्ति प्रदान करें ताकि हम अपनी उत्तरोत्तर बढती जा रही श्रद्धा के अनुसार 'तत्परता' भी दिखा सकें।

इस विषय में हमारे भारत के एक कवि का यह भाव बहुत ही प्रसिद्ध है—

हिम्मत करे इन्सान तो क्या हो नहीं सकता।
वो कौन-सा उकदा है जो वा हो नहीं सकता॥

—**—

❀ गीता—गौरव ❀

गीता आहत हुए मन के लिये मरहम है, साधक की चिरसङ्गिनी और उत्साह बढ़ाने वाली पथ-प्रदर्शिका है। वह वीरों का विजयदण्ड और लङ्गोटी लपेटे धूनी रमाये पुरुषों के लिये सुख-शान्तिप्रद आश्रय है।

—❀❀—

"मेरा शरीर माँ के दूध पर जितना पला है उस से कही अधिक मेरा हृदय व बुद्धि, दोनो गीता के दूध से पोषित हुए हैं।"

—❀❀—

सर्वत्र भोजन करने का, दानादान लेने का पाप गीता-पाठ से नष्ट हो जाता है।

(७४)

❀ श्रद्धाकी पराकाष्ठा—इन्द्रियोंका संयम ❀

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

गीता—४/३९

—अर्थ—

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर बिना विलम्ब के—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

—अर्थात्—

"श्रद्धावत् जितेन्द्रिय जो ज्ञान को चित लाये हैं ।
ज्ञान पा वह ज्ञान से सुख शान्ति को पाये हैं ॥"

—❀❀—

प्रिय गीता पाठक !

गत दो लेखों में, ज्ञान-प्राप्ति के दो मुख्य-मुख्य साधनों पर हमने एकाग्रता एवं प्रेमपूर्वक विचार किया । वे थे—

(१) 'श्रद्धा' एवं (२) तदनुरूप 'तत्परता'

निःसन्देह, हमारे भगवान्‌जी का यह कथन विवि-

बाद सत्य है कि जो उच्चकोटि का श्रद्धालु होगा वह अनिवार्य रूप से 'श्रद्धा' के अनुसार अहर्निश साधना में दिल-ओ जान से 'तत्पर' भी होगा। सचमुच, तत्परता के बिना साधना निःसार एवं निराधार है या इस प्रकार कह लोजिये कि व्यर्थ के हवाई किले हैं। २०वीं शताब्दोके स्वनामधन्य ज्ञानसम्राट् गुरुदेव 'स्वामी राम तीर्थजी महाराज' अपने श्रीमुख से इस विषय में फ़र-माया करते थे—

'इल्म गरचि पढ़ लिया,
आलम कहाया क्या हुआ।
जब तलक उस पर अमल
करना न आया क्या हुआ।
इल्म का पढ़ना पढ़ाना है
कि उस पर अमल हो।
वरना यों ही मुफ्त में हो
सर खपाया क्या हुआ॥

तो मान लोजिये हम भगवान् के सच्चे एवं पक्के भक्त दिन-रात अपनी साधनामें तत्पर भी हों तो हमारे पास क्या ठोस प्रमाण है कि हम अपनी साधना में यथार्थरूप से 'तत्परता' दिखला रहे हैं? इस सम्भावित प्रश्न का युक्तियुक्त एवं उपयुक्त प्रत्युत्तर देते हुए हमारे

जगत्गुरु भगवान्जी इसी श्लोक के पूर्वार्द्ध के अन्तिम शब्दों में फ़रमा रहे हैं कि साधक की तत्परता तब ही सफल मानी जानी चाहिये जबकि उसे अपनी समस्त इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण निग्रह हो जाये। कहनेका अभिप्राय यह कि इन्द्रियाँ अपने जन्म-जन्मान्तरों के पुराने संस्कारों सम्बन्धी विषयों को सदा-सदा के लिये त्याग कर अपनी यथार्थ शान्ति के अनुसन्धान के लिये मन सहित अन्तर्मुखी हो जायें।

कान श्रवण करें तो सही परन्तु सुनें आत्म-विषयक ज्ञानभरी बातें!

नेत्र देखें तो सही परन्तु आत्मा की अनुभव करने के लिये लालायित रहें;

मुख बोले तो सही परन्तु बोले ज्ञानभरी बातें;

हस्त यदि कुछ स्पर्श करें तो ब्रह्मनिष्ठ श्रीगुरुदेवजी के श्रीचरणों को अथवा उच्चकोटि के सद्‌शास्त्रों को और—

पाद अपना गमन करना छोड़े तो नहीं परन्तु गमन करें किसी रमणीक एवं एकान्त स्थान में बैठकर मनन एवं निदिध्यासन करने के लिये।

यदि ऐसा हो तो साधक को तब, केवलमात्र तब ही मानना चाहिये कि साधना विषयक तत्परता यथार्थ

है अन्यथा उसे अपनी तत्परता का पैनी दृष्टि से निरीक्षण करना चाहिये। संक्षिप्त रूप में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि हमारी भगवान् एवं भगवान्जी की कल्याणकारिणी वाणी पर अटूट श्रद्धा है तो भक्त संसार के समस्त नाम-रूपों से हटकर उत्तरोत्तर उन्हीं में तल्लीन होता जा रहा होगा तथा उनके उपदेश को अपने जीवन का विशेष, अतिविशेष अङ्ग बनानेके लिये दिन-रात प्राणापणसे तत्पर होगा और यदि वह यथार्थ रूपमें साधनामें, तत्परता दिखा रहा होगा तो अनिवार्य एवं अपरिहार्य रूपसे उसकी समस्त इन्द्रियाँ उसके वश में होती चली जा रही होंगी! इस सिद्धान्तको हम इस प्रकार कह सकते हैं—

> जितनी अधिक श्रद्धा, उतनी अधिक तत्परता,
> जितनी अधिक तत्परता, उतना अधिक इन्द्रिय एवं मनोनिग्रह।

आओ, इस सिद्धान्त पर कहीं एकान्त में बैठ कर बड़ी एकाग्रतापूर्वक मनन करें!

(७२)

ज्ञान प्राप्त—दुःख समाप्त

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानम् लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

गीता—४/३९

अर्थ—जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त हो कर वह बिना विलम्ब के तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त होता है ।

—अर्थात्—

'जो कर्म तत्पर है जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् है ।
वह प्राप्त करके ज्ञान पाता शीघ्र शान्ति महान् है ॥'

प्रिय गीतानुयायी पाठक !

गत तीन अङ्कों में हमने ज्ञानप्राप्ति के भगवान्‌जी द्वारा वर्णित गीताजी के (श्लोक—४ । ३९) अनमोल कथनानुसार तीन मुख्य साधनों पर संक्षिप्त रूप से विचार-विमर्श किया । वे थे—

(क) श्रद्धा

(ख) तत्परता

(ग) इन्द्रिय-संयम

जब कोई महोभाग्यशाली साधक उच्चकोटि की श्रद्धा, तदनुरूप तत्परता तथा तत्फलस्वरूप जितेन्द्रियता मे पूर्णरूपेण सफल मनोरथ हो जाता है। इसके बाद उच्चकोटि के ज्ञान का प्राप्त होना अर्थात् निजस्वरूप आत्मा का अपरोक्ष अनुभव होना स्वयमेव हो जाता इस अपरोक्ष अनुभूति के पश्चात् साधक के नाना प्रकार के दु.ख एव क्लेश अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक (आधि, व्याधि एवं उपाधि) तत्काल सदा-सदा के लिये छू-मन्त्र हो जाते हैं और ऐसा बड़-भागी साधक अपनी आत्मा से ही सदा रहने वाली दैवी-शान्ति का अनुभव करता हुआ गद्गद हो जाता है। इस उच्चकोटि की सराहनीय एवं अनुकरणीय अवस्था में उसे इस विचित्र एवं अद्भुतालय संसार का किसी प्रकार का भी क्लेश एवं दुःख स्पर्श नही कर सकता क्योंकि वह इस उच्चकोटि की अवस्था में शरीर, मन एवं बुद्धि से सदा-सदा के लिये अतीत हो जाता है। इसी सराहनीय अवस्था का वर्णन करते हुए २०वी शताब्दी के ज्ञानसम्राट् 'स्वनामधन्य स्वामी रामतीर्थ जी महाराज' अपने श्रीमुख से गुनगुनाया करते थे--

(क)

जब तलक अपनी समझ इन्सान को आती नही।
तब तलक दिल की परेशानी कभी जाती नहीं॥

(ख)

ज्ञान से मिलती है आज़ादी यह राहत सर-बसर ।
वार के फेंकू मैं इसपे दो जहां का माल–ओ ज़र ॥

(ग)

जब उमड़ा दरिया उल्फ़त का,
हर चार तरफ आबादी है ।
हर रात नई इक शादी है,
हर रोज़ मुबारिक बादी है ॥

–फलतः–

यदि हम हार्दिक रूप से इस स्थाई एवं शाश्वत शान्ति की उपलब्धि किया चाहते हैं तो हमें गम्भीरता एवं तत्परतापूर्वक भगवान्, गुरुदेव तथा श्रीगीताजी के प्रति उच्चकोटि की श्रद्धासे काम लेना होगा । श्रद्धा के बढ़ जानेके फलस्वरूप तत्परता एवं जितेन्द्रियता बिना प्रयास के हमारे जीवन में घटने लगेंगी । बस, केवल आवश्यकता है अपने-आपको मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर उच्चकोटि की श्रद्धा (Unshakable faith) से सम्पन्न करने की । अतः बिना विलम्ब हम अपने मन को समस्त ऐहिक नाम-रूपों से उन्हें अनित्य एवं दुःख-दायी समझ कर हटा लें तथा ऐसे संयत शक्तिशाली मन को अपने इष्टदेव के उपदेश में सदा-सर्वदा के लिये

जोड़ दें। बस, फिर तो वेडा पार हो समझिये। एक भारतीय कवि ने इस विषय में क्या ही सुन्दर कहा है--

तब ही मन्ज़िल दूर थी जब राह से गुमराह थे।
राह को जब पा लिया मन्ज़िल नज़र आने लगी॥

जय भगवत् गीते!

—❀❀—

गीता-गौरव

"समय ही सदा साक्षी रहा है, आज भी है और आगे भी रहेगा। समय कह रहा है—जो गीता का सहारा ले लेगा वह भवसागर से पार हो जायेगा—भारतवर्ष ही नही, संसार का कोई भी प्राणी गीता की शरण में पहुँच कर अपूर्व शान्ति का अनुभव कर सकता है—यह निर्विवाद सत्य है।"

—❀❀—

"गीता का बीज विषाद से छुड़ाने के लिये बोया गया है। गीता का वृक्ष अश्वत्थके समान विशाल, घना और छायादार है, गीता की शक्ति सब कर्मों और धर्मों के फल-त्यागसे प्रगट होती है। गीताका प्रसाद आत्म-समर्पण से मिलता है।"

—❀❀—

(७६)

* संशयात्मा-दुरात्मा *

—**—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

गीता-४/४०

अर्थ—जो अज्ञानी है, श्रद्धा विहीन है तथा संशयालु है—ऐसे व्यक्ति का अवश्य नाश हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मानव के लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।

—अर्थात्—

जिसमें न श्रद्धा, ज्ञान, संशयवान् डूबे सब कहीं।
उसके लिये सुख लोक या परलोक कुछ भी है नहीं॥

खुदा को पूजने वाले मुजस्सम प्यार होते हैं।
जो मुनकर हैं जमानेमें जलील-ओ ख्वार होते हैं॥

ऐ मननशील गीता-ज्ञानेप्सु !

श्रद्धा मानव जीवनका आधार है। नन्ही-सी च्यूँटीसे लेकर विशाल हाथी तथा एक सामान्य मानव से लेकर विशेष श्रीब्रह्माजी तक को यदि किसी ने कार्यरत कर रखा है तो इसी श्रद्धाने। गीताकार भगवान् श्री-

कृष्ण तो श्रद्धा के सम्बन्ध में यहाँ तक कह देते है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

गीता—१७/३

—अर्थ—

यह पुरुष श्रद्धामय है जैसी जिसकी श्रद्धा है वह वैसा ही है।

स्मरण रहे—

सृष्टिकर्ता भगवान् जी ने सृष्टि की रचना करते समय तीन गुणों—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का सम्मिश्रण कर दिया। इन्हीं गुणों के अनुरूप ही मानव की श्रद्धा तीन प्रकार होती है। यथा—सतोगुण की प्रबलता में श्रद्धा भी सतोगुणी, रजोगुण की प्रधावता में रजोगुणी और तमोगुण की बहुलता में तमोगुणी। सतोगुण की वृद्धि में मानव संसार और भगवान् की यथार्थता समझ कर अपनी श्रद्धा सत्य, नित्य और सुखदायी भगवान् जी की सत्ता पर ही जमाता है। परन्तु जबतक मानव मे रजोगुण और तमोगुण का आधिक्य रहता है, तबतक बुद्धि आवरणों में होने के कारण वह यथार्थता से अनभिज्ञ रहता है, और परिणामस्वरूप भगवान् जी को महत्ता न देकर संसार के टूटने, फूटने और छूठने वाले प्राणी-पदार्थों को ही महत्ता प्रदान करता रहता है।

मन का यह स्वभाव है कि जिस किसी की महत्ता बढाता है उसी पर श्रद्धा कर बैठता है। श्रद्धा जो भगवान् पर की जानो चाहिये थी, आज का दुर्मति मानव संसार के मिथ्या नाम-रूपो पर किये हुए है उसकी बुद्धि ऐहिक विषय-भोगोमें इस सीमा तक रची-पची हुई है कि वह वास्तविकता से कोसो दूर हो चुका है। भगवान्, शास्त्र, महापुरुष, परलोक इत्यादि के सम्बन्ध में वह कुछ जानता ही नही, फिर श्रद्धा करना तो बहुत दूर की बात है। यदि कोई उसे समझाने का प्रयत्न भी करता है तो वह कूप-मण्डूक की भांति यही कहते सुना जाता है कि यही सब कुछ है, इसके परे और कुछ नही। यही नही, वह अपने ही दूषित अन्तः-करण के कारण निखिल नियन्ता भगवान्, उच्चकोटि के शास्त्रो एवं महापुरुषों पर संशय करता है, व्यग्य कसता है और मिथ्या दोषारोपण करता रहता है। परन्तु क्या उसके ऐसा करने से भगवान्, शास्त्र अथवा महापुरुषों की महत्ता कम हो जायेगी? कदापि-कदापि नहीं। बन्धुवर! सोने को कोई मिट्टी मे क्यों न गिरा दें तथापि उसके मूल्य में कोई कमी नही आ सकती। इसी प्रकार भगवान् को कोई माने या न माने, लाख उनके विपरीत बातें बनाता रहे परन्तु भगवान्‌जी की

महत्ता तो फिर भी आन-बान-शान से चमकती-दम-कती रहेगी।

नूर-ए खुदाय-ए कुफ्र की हरकत पे खन्दा जन।
फूँकों से यह चिराग़ बुझाया न जायेगा॥

कवि मस्तक पर हाथ रख कर कहता है कि खेद है उन लोगों पर जो भगवान् जी की सत्ता को नहीं मानते। परन्तु यह वह ज्योति नही है जो उनके न मानने से बुझ जायेगी। वास्तविकता तो यह है कि जिस किसी ने भी भगवान् रूपी अमर-ज्योति को बुझाने का प्रयत्न किया, वे स्वयं ही मिट गये, नष्ट हो गये और पतनके गहरे गर्तमे जा गिरे। इसीलिये श्री-भगवान् जी चेतावनी भरे शब्दों में ऐसे अज्ञ, अश्रद्धालु एव संशयालु मानवो के लिये कह रहे है—

'संशयात्मा विनश्यति'

इससे पूर्व के श्लोक में जहाँ भगवान्जी ने श्रद्धालु के लिये ज्ञान-प्राप्ति और तत्पश्चात् बिना विलम्ब परम शान्ति की प्राप्ति का आश्वासन दिया। विचाराधीन श्लोक में उसी स्वर में भगवान्जी नकारात्मक पहलू (Negative side) का वर्णन करते हुए वक्ष्यमाण हो रहे हैं कि जो विवेकहीन मानव ,अश्रद्धालु हैं और

नाना प्रकार के संशयोसे युक्त हैं ऐसे अल्पबुद्धि मानवों का नाश हो जाता है। यही नही, उनके लिये न तो इस लोक में सुख-शान्ति है और न ही परलोक में अर्थात् वे दोनों लोकों से मारे जाते हैं। संशययुक्त व्यक्ति सचमुच--

रहे डगमगाता न हो आदमी,
यह दुनियां उसकी न अगला जहां।

प्रिय गीता-पाठक !

शंका को हमारे दूरदर्शी अनुभवी महापुरुषों ने संखिया (विष) की संज्ञा दी है। जिसके मन में शंका रूपी विष व्याप्त हो गया है, वह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है। फलतः जब भी कोई शंका मन मे उठे किंवा उठने की सम्भावना हो, तत्काल श्रीगुरुदेवजी के पास विनम्रतापूर्वक जाकर उसका समाधान करवा लेना चाहिये। अठारहवें अध्यायमें गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निःसृत निम्नाङ्कित सूक्ति सदैव स्मरण रहनी चाहिये--

'छिन्न संशयः' गीता—१८/१०

—अर्थात्—

गुरु के पास जाये करे आदर-सत्कार।
शकूक अपने कर दे वो सब तार-तार॥

(७७)

❊ आत्मवान्—कर्मों में अलिप्त ❊

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥

गीता—४/४१

अर्थ—हे धनञ्जय ! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों का परमात्मा में अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरण वाले पुरुष को कर्म नही बांधते ।

—अर्थात्—

'तज योग-बल से कर्म, काटे ज्ञान से संशय सभी ।
उस आत्म-ज्ञानी को न बान्धे कर्म बन्धन में कभी ॥'

—❀—

प्रिय गीतानुयायी पाठक !

इस उक्त भगवान्‌जी के वचनामृत को ले कर हम इस विषय पर विचार करने जा रहे हैं कि आत्मवान् को कर्म लिप्त नही करते अर्थात् आत्मवान् कर्म करता हुआ भी कर्मों के प्रभाव से अलिप्त एवं असङ्ग रहता है । आओ, गम्भीरतापूर्वक मनन करें कि यह कैसे सम्भव होता है ?

हम अपने दैनिक-व्यवहारमें देखते हैं कि हर क्रिया

अपनी प्रतिक्रिया साथ लिये हुए होती है परन्तु ब्रह्म-ज्ञानी इसमें अपवाद माना जाता है। इसका मुख्य कारण हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महा-राज अपने पिछले उपदेशों में बड़े विस्तारपूर्वक एवं युक्तिसङ्गत बतला चुके है। कर्म अपने-आपमे जड़ है। इसका प्रभाव कर्ता पर तभी पड़ता है जब वह अज्ञा-नतावश कर्मों में लिपायमान हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह कि कर्मों को फल की चाहना से करता है। यही कर्मोंमें आसक्ति एवं फलाशा ही उसके बाँधने का मुख्य कारण बन जाते हैं। साधारण एवं सामान्य मानव अपनी ही कर्मासक्ति के कारण कर्मों में बुरी तरह ग्रस्त हो कर आवागमन के चक्कर से छूट ही नहीं सकता। परन्तु ब्रह्मज्ञानी अपने-आपको न कर्ता मानता है और न ही भोक्ता। वह तो कर्मों को इन्द्रियों का स्वभाव मान कर कूटस्थ एवं तटस्थ हुआ-हुआ लोक-संग्रहार्थ कर्मक्षेत्र में जुटा रहता है। कर्मों में न उसे मान-अपमान से वास्ता है और न जय-पराजय से कोई मतलब, न सफलता-असफलता से कोई सरोकार और न ही कर्मों से होने वाले सुख-दुःख से कोई स्वार्थ। वह तो 'सर्वहिताय' एवं 'सर्वसुखाय' स्वाभाविक रूपसे कर्म करता रहता है। अतः कर्मों का उसके अन्तःकरण पर किसी प्रकार का भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस उच्चकोटि

की अवस्था में कर्म अकर्म हो जाते हैं। बाह्य रूप से तो निःसन्देह उससे कर्म होते रहते हैं परन्तु आन्तरिक रूप से वह आत्मनिष्ठ होने के कारण बिल्कुल निश्चिन्त एव निष्काम बना रहता है। इस सराहनीय एवं अनुकरणीय उच्चकोटि की अवस्था मे कर्म प्रतिक्रियारूप में उसके अन्तःकरण पर किसी प्रकार के भी संस्कार नही छोड़ता। इस निरासक्त अवस्था में कर्म जैसे हुए न हुए के समान समझे जाते हैं। कमल के पत्ते की भाँति वह आत्मनिष्ठ संसार में एवं दैनिक व्यवहार में निर्लेप-सा बना रहता है। उसका रोम-रोम पुकार रहा होता है—

काम जो करना है हम को फ़िकर हो उस काम की।
ख्वाइशें बेकार हैं तकलीफ़ की आराम की॥

भगवान्‌जी उपर्युक्त श्लोकमें उपदेश देते हुए फ़रमा रहे हैं :—

'योग से त्यागे हुए कर्मों वाले, ज्ञान से कट गये संशयों वाले और आत्मवान् पुरुष को, हे अर्जुन! कर्म नही बांधते हैं।'

क्या कमाल! क्या कमाल!!

वही आत्मा का जिसे ज्ञान है,
कहाँ उसको कर्मों से नुकसान है।

(७८)

* ज्ञान प्रसारण–संशय निवारण *

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

गीता—४/४२

अर्थ—इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशय का विवेकज्ञानरूप तलवार द्वारा छेदन कर के समत्वरूप कर्मयोग में स्थित हो जा और युद्ध के लिये खड़ा हो जा ।

–अर्थात्–

'अज्ञान से जो भ्रम हृदय में, काट ज्ञान कृपाण से ।
अर्जुन खड़ा हो युद्ध कर, हो योग आश्रित ज्ञानसे ॥'

प्रिय अविनाशी आत्मन् !

साधना के दिनोंमें एक बात विशेष ध्यान में रखने योग्य हुआ करती है और वह यह कि साधना में पूर्ण-रूपेण जुटने से पूर्व, मन में समय-समयानुसार उठते हुए नाना प्रकारके संशयों का, अपने श्रोत्रिय एवं ब्रह्म-निष्ठ गुरुदेवजी के पास रह कर यथाशीघ्र निवारण कर लेना चाहिये । जब तक विक्षेपता में डालने वाले इन

संशयों का युक्तियुक्त समाधान न हो जाये तब तक प्रेम एवं बहुत विनम्रतापूर्वक अपने भगवान्‌तुल्य गुरुदेवजी से इनकी निवृत्ति के ज्ञानभरे उत्तर लेते रहने चाहियें। हाँ, इस बात का विशेष ध्यान रहे कि प्रश्न-पर-प्रश्न नहीं करने चाहिये अपितु गुरुदेवजी का बहुत समय न ले कर थोड़े समय में ही संशयों का निवारण करना चाहिये। कल्याणकारी उपाय तो यह होता है कि साधना शास्त्र, निर्णय एवं विचार सम्बन्धी नाना प्रकार की शङ्काओं एवं प्रश्नों को एक अलग अभ्यास-पुस्तिका (Copy) पर इस क्रम से अङ्कित कर लिया जाये कि जो अत्यन्त आवश्यक शङ्कायें हों वे पहले और शेष को तत्पश्चात् क्रम से लिख लें। अपने गुरुदेव जी के समय को अत्यन्त मूल्यवान् समझते हुए एक ही दिन एक ही बैठक (Sitting) में नाना प्रकार के प्रश्नों की झड़ी नहीं लगा देनी चाहिये। कई दिनों में धीरे-धीरे कर के सब शङ्काओं एवं प्रश्नों का समाधान आदर एवं प्रेमपूर्वक विनम्र शब्दों का प्रयोग कर के करवाना चाहिये और वह भी गुरुदेवजी की मनोमुद्रा का विशेष ध्यान रखते हुए। यदि गुरुदेवजी अपने भावों में बहुत तल्लीन हों, अनेक प्रेमियों के प्रश्नों के उत्तर दे चुके हों तब अपने प्रश्नों का राग नहीं अलापना चाहिये। समय और अवसर देख कर प्रश्न करने से

बहुत लाभ होता है। जहाँ तक हो सके अपने गुरुदेवजी से संशयों का निवारण प्रातःकाल एकान्त में बैठ कर ही करवाना चाहिये। स्मरण रहे—भगवान्‌जी के उपरोक्त श्लोकानुसार शङ्का-समाधान गुरुदेवजी के अनुभूत ज्ञान से ही-हो पायेगा न कि शास्त्रीय ज्ञान से। संशयों का निवारण हो चुकने के पश्चात् फिर अपने गुरुदेवजी से आज्ञा ले कर कुछ समय के लिये किसी रमणीक एकान्त स्थान में डेरा जमा लेना चाहिये और खूब दिल-औ जान से एक होकर गुरुदेवजी द्वारा बताये गये उपायों अनुसार योग-युक्त होने का भागीरथ पुरुषार्थ करना चाहिये। हो सके तो इन दिनों मौन-व्रत ले लें तो सोने में सुगन्धी सिद्ध होगा। अतः हमारे जगद्गुरु भगवान्‌जी अपने श्रीमुखसे हमें प्रेमभरी एवं कल्याणकारी आज्ञा देते हुए इसी श्लोकके उत्तरार्द्धमें कह रहे हैं:—

छित्वा एनं संशयम् योगं आतिष्ठ उत्तिष्ठ भारत।

—अर्थात्—

'उठ ऐ भारत! और छोड़ सब वहम-खाम,
तू रख योग में दिल को कायम मदाम।

इस सम्बन्ध में एक भारतीय कवि ने क्या ही सुन्दर एवं कल्याणकारी चेतावनी दी है—

'जो दुविधा में अपने को पाता है तू,
तो उड़ता नहीं फड़फड़ाता है तू।'

(७६)

* संन्यासी की परिभाषा *

—❀❀—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥
गीता—५/३

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

प्रिय गीता-पाठक !

आज के इस विषय में हम अपने पथ-प्रदर्शक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजजी की दिव्य वाणी श्रीगीताजी के ५वें अध्याय के तीसरे श्लोक में वर्णित संन्यासी की यथार्थ परिभाषा समझने जा रहे हैं—

भैया ! कलियुग अपने विचित्र हथकण्डों एवं चतुराई से वस्तु का यथार्थ स्वरूप छिपा कर कुछ-का-कुछ प्रगट कर देता है और भोले-भाले अल्पज्ञ लोग इसके चक्कर में बुरी तरह ग्रस्त हो जाते है । यही दशा आज कल के भगवे वस्त्र धारण किये हुए हजारों तथाकथित

संन्यासियो की प्रत्यक्ष रूप में दिखाई दे रही है। परन्तु हमारे परम हितैषी भगवान्जी इस धोखे से बचने के लिये 'संन्यासी'की यथार्थ परिभाषा अपने इस अनमोल कथन मे देते हुए कह रहे हैं—

'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।'

—अर्थात्—

सदा संन्यासी उसे जानिये,
हो नफरत किसी से न रग़बत जिसे।

भगवान्जी के कहने का अभिप्राय यह है कि जब भी कोई इस धार्मिक मार्ग में पग रखने की तीव्र आकांक्षा रखता हो तो सर्वप्रथम उसे विवेक एवं वैराग्य से सम्पन्न हो जाना चाहिये। परिपक्व विवेक राग का सदा-सर्वदाके लिये उन्मूलन कर देगा तथा तीव्र वैराग्य द्वेषकी जड़ें काटे बिना रहेगा नही। अत: परमार्थगामी बनने के लिये विवेक एवं वैराग्य का आश्रय पूर्णरूपेण ले लेना चाहिये। विवेक परिपक्व होता है तब, जब हम एकान्तमें बैठकर नित्य-अनित्य वस्तु का बड़ी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने लग जाते हैं और वह भी एक-दो दिन के लिये नही अपितु नियमित रूप से कई मास निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये। तब इस विवेक के फलस्वरूप वैराग्य स्वयमेव अन्त करण मे प्रगट हो

जाता है जिसके कारण संसार के समस्त नाम-रूपो से मन सदा-सर्वदा के लिये उपराम हो कर प्रभु-दर्शन किंवा आत्मानुभव के लिये लालायित हो उठता है। इस सराहनीय एवं उच्चकोटि की मानसिक अवस्था में कोई भी अहोभाग्यशाली साधक संन्यासी कहलाने का अधिकारी माना जाता है। ऐसा उत्तम संन्यासी आपको प्रायः किसी निर्जन एकान्त स्थान में ही कहीं-कहीं भाग्यवशात् दिखाई देगा। स्मरण रहे—ऐसे प्रभु के निकट पहुँचे हुए संन्यासी आपको नगर के बाजारों, गलियो, मुहल्लों एवं ग्रामो में दिखाई न देंगे। वे तो सचमुच, इस कलिकाल मे अत्यन्त दुर्लभ ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनका स्वभाव आपको बिल्कुल उपराम, कूटस्थ एवं पूर्णतया तटस्थ ही प्रतीत होगा। उनको न मान-अपमान की, न राग-द्वेष की, न संयोग-वियोगकी, न सर्दी-गर्मी की न जीवन-मृत्यु आदि की ही परवाह होती है। सचमुच, ऐसे उत्तम संन्यासी गुणातीत एवं द्वन्द्वातीत ही हुआ करते हैं। वे तो सदा-सर्वदा अपने इष्टदेव में ही लवलीन एवं तल्लीन रहते है। ज्ञान का सूर्य उनके अन्तःकरणमें २४ घण्टे बड़ी आन-बान-शान से जगमगाया करता है। तो फिर ऐसी अवस्थामें राग एवं द्वेष के पक्षी अपने पर फड़फड़ायें तो कैसे? ज्ञान

के सूर्य के सम्मुख ऐसे नाना प्रकार के द्वन्द्व भला क्या अर्थ रखते हैं। अतः हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज सच्चे संन्यासीकी परिभाषा करते हुए स्पष्ट कर रहे हैं:—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।

—अर्थात्—

'है नित्य संन्यासी न जिससे द्वेष या इच्छा रही।
तज द्वन्द्व सुख से सर्व बन्धन-मुक्त होता है वही॥'

—**—

जय भगवत् गीते!

जय भगवत् गीते!

❀ गीता–गौरव ❀

"भगवान् के पथ में चलने वाले साधक के लिये साधनक्रम में जिन-जिन बातों की आवश्यकता है उन का निदर्शन गीता में जैसा हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ।"

—प्रोफेसर फिरोज कावसजी दावर

(८०)

* द्वन्द रहित--प्रभु सहित *

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखम् बन्धात्प्रमुच्यते ॥

गीता—५/३

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसी को आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि राग-द्वेषादि से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है।

प्रिय गीता-पाठक !

सन्त शिरोमणि परम आदरणीय एवं प्रातः स्मरणीय स्वनामधन्य 'गुसाईं तुलसीदास जो महाराज' ने अपनी लोकप्रिय 'रामायण' मे यह सूक्ति कहकर सचमुच हमारे ऊपर बड़ा उपकार किया—

'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहिं'

हमारे महापुरुषो ने सुख-दुःख को परिभाषा देते हुए बडे ठोस एवं युक्तियुक्त शब्दो मे कहा है—

'सर्वम् परवशम् दुःखम् सर्वम् आत्मवशम् सुखम्'

—अर्थात्—

दूसरे के अधीन होकर जीवित रहना मानो मरना

प्रकार के दुःख पाता है तथा अपने सहारे अर्थात् आत्म-निर्भर होकर जीवित रहना मानो शाश्वत एवं स्थाई सुख पाकर कृतार्थ होता है।

उपरोक्त पाँचवें अध्याय के तीसरे श्लोक के उत्तरार्द्ध में हमारे जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज अपने जिज्ञासु भक्त को बड़े प्रेम से समझाते हुए अपने श्रीमुख से फरमा रहे हैं—

'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखम् बन्धात्प्रमुच्यते ।'

–अर्थात–

'सब द्वन्द्व सुख से सर्व बन्धन मुक्त होता है वही।'

सचमुच, यह सृष्टि बडी ही कौतुकी एवं अद्भुत है। द्वन्द्वों की आपस में खूब होड़ लगी हुई है, यथा—दिन के पीछे रात की, ग्रीष्म के पाछे शीत की, बसन्त के पीछे शिशिर की, जोवन के पीछे मृत्यु की, पूर्णिमा के पीछे अमावास्या की, लाभ के पीछे हानि की इत्यादि-इत्यादि। बहुसंख्यक इन्ही द्वन्द्वो के हिंडोले में बैठे हुए ऊँच-नीच (Ups & downs) के विचित्र एवं भयानक दिन देखते किसी तरह सहते-सहते अपनी आयु को धकेले चले जा रहे हैं। सचमुच, इन अविश्वसनीय एवं परिवर्तनशील द्वन्द्वों के अधीन हुआ–हुआ एक सामान्य एवं साधारण मानव अपने जीवनको 'Auto-start' न करता हुआ 'धक्का-start' कर रहा है अर्थात्

उसका जीवन स्वचालित न होकर परचालित है। ऐसा जीवन निःसन्देह दुःखों, कष्टों, बाधाओं एवं नाना प्रकार के उत्पातो का एक विचित्र घर बन जाता है। कितना भाग्यशाली है वह मानव जो इन सांसारिक द्वन्द्वो पर आश्रित न होकर अपने मन को प्रभु-परायण करता हुआ द्वन्द्वो से दिन-प्रतिदिन छुटकारा पाता चला जा रहा है। उसका जीवन सराहनीय एवं सर्वजन अनुकरणीय बन कर आदर्श (Ideal) कहलाता है। हमारे भगवान्‌जी पूर्ण विश्वास दिलाते हुए इस प्रसंग में कह रहे हैं कि ऐसा अहोभाग्यशाली मानव स्वनिर्मित नाना प्रकार के बन्धनो को सदा-सर्वदा के लिये तोड़कर सुगमतापूर्वक संसार के इस अतिविचित्र आवागमन के अत्यन्त दुःखदायी चक्कर से सदा-सदा के लिये मुक्त हो जाता है। स्मरण रहे—जबतक मानव इन द्वन्द्वो से छुटकारा नही पाता तबतक स्थायी एवं शाश्वत सुख कभी भी प्राप्त न कर पायेगा।

—फलतः—

हमें भागीरथ पुरुषार्थ करते हुए अपने-आपको प्रभु-परायण बना कर इन ऐहिक द्वन्द्वो से छुटकारा पाना ही होगा। इसके अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं।

(८१)

* एक ही साध्य के सब साधन *

—**—

यत्सांख्यै प्राप्यते स्थानम् तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगम् च यः पश्यति स पश्यति ॥

गीता—५/५

अर्थ—ज्ञानयोगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियो के द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।

—अर्थात—

'पाते सुगति जो सांख्य—ज्ञानी कर्मयोगी भी वही।
जो सांख्य, योग समान जाने तत्त्व पहिचाने सही ॥'

प्रिय गीतानुयायी मननशील श्रद्धालु पाठक !

अपने पूर्वजों से बाल्यावस्था में यह भाव सुना करते थे—

इक शहर दे होंवदे राह बहुते,
इसी तरह ही राह करतार होंदे।
रस्ते खातिर लड़दे रहन जेहड़े,
बेड़े ओन्हां दे कदी न पार होंदे ॥

हमारे उदारचित्त (समुद्र-दिल) इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज उक्त श्लोक मे इस परम कल्याणकारी रहस्य को प्रकट करते हुए वक्ष्यमाण हो रहे हैं कि—प्रत्येक साधक अपने अन्तःकरण, रुचि, संस्कारो तथा चिरकाल के अभ्यासानुसार कर्म, भक्ति, एवं ज्ञानयोग—इनमे से किसी एक योगको भली प्रकार ग्रहण करके अहर्निश जुटा रहता है। इसी प्रकार अपनी श्रद्धा, तत्परता एवं लग्नता के फलस्वरूप देर चाहे सवेर अपने उद्देश्य (प्रभु-प्राप्ति) को सम्यक् रूप से प्राप्त कर लेता है। कर्मयोगी भी उसी अपने इष्टदेव के साकाररूप का दर्शन करता हुआ गद्‌गद हो उठता है। भक्ति-मार्गी जीव अपने उसी इष्टदेव के दिव्य-दर्शन करके अपने जीवन को सार्थक बना लेता है तथा जिज्ञासु साधक निर्विकल्प समाधि में तल्लीन हुआ हुआ उसी सर्वव्यापी भगवान् को अपनी ही आत्मा में अनुभव करके कैवल्य-मुक्ति का अधिकारो बन जाता है। तो फिर इसमें 'योग' को लेकर वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन एव मनोमुटाव कैसा ? सब साधको को प्रभु-दर्शनो का फल तो एक ही समान मिला फिर योग में अन्तर क्या रहा ?

—जैसाकि—

एक ही नगर को पहुँचाने वाली चारों ओर पग-

डंडियाँ फैली हुई होती हैं, जो पगडंडी जिस पथिक के अनुकूल होती है वह उसी पथ से उसी एक ही नगर में पहुँचकर अपनी कामना की पूर्ति कर लेता है। तो पथिकों का पथ को लेकर वाद-विवाद करना सचमुच, निरी मूर्खता है, मूर्खता !! बिलकुल इसी प्रकार साधक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार एक ही योग का पूर्ण-रूपेण आश्रय लिये हुये अपने भगवान्‌जी में तल्लीन होकर जन्म-मरण के विचित्र चक्कर से छूटते हुए मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

—फलतः—

भगवान्‌जी इस दिव्य घोषणा द्वारा सबको उदार बनाते हुए फ़रमा रहे हैं कि चाहे कोई कर्मयोग के रास्ते से आये या भले ही ज्ञानयोग के रास्ते से अग्रसर होता हुआ अपरोक्षानुभूति कर ले, इन दोनों के फल में रञ्चकमात्र भी अन्तर नहीं समझना चाहिये। जो भाग्यशाली साधक ऐसी भावना बनाये हुए हैं, सचमुच, उसी की दृष्टि सफल है, बुद्धि सफल है तथा समझ भी उसी की उत्तम और कल्याणकारी है। शेष तो लकीर के फकीर बने हुए केंचुल को पीट रहे हैं। वास्तविकता की ओर तो किसी का ध्यान ही नहीं। भगवान्‌जी के उत्साहवर्द्धक शब्द हमें सदा प्रेरणा देते

नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प संसार सम्बन्धी उठते रहते है, परमार्थ-सम्बन्धी नही। इन ऐहिक सङ्कल्प-विकल्पो से जब तक निष्काम कर्मयोगी अन्तःकरण को पूर्णरूपेण शुद्ध नही कर लेता तब तक वह कर्मयोगी कहलानेका अधिकारी नही माना जाता। स्मरण रहे-इससे अन्तःकरण विशुद्ध, पवित्र एवं निर्मल होता है जब निष्काम कर्मयोगी अपने-आपको मनसा-वाचा-कर्मणा प्रभु चरणोमें सदा-सर्वदा के लिये समर्पित कर देता है। तब, केवलमात्र तब ही कर्मयोगी का अन्तःकरण नाना प्रकार के दूषित संस्कारों एवं वासनाओसे सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है।

इसके पश्चात् हमारे परम हितैषी भगवान्‌जी निष्काम कर्मयोग की दूसरी विशेषता बतलाते हुए कह रहे हैं कि निष्काम कर्मयोगी उसी को कहा जा सकता है जिसने अपने मन को जीत लिया है (विजितात्मा) अब आप गत अनेक विषयो को भली प्रकार पढ़ कर एवं मनन करते हुए यह समझ ही चुके होगे कि मन विचारो का पलन्दा है अथवा हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि नाना प्रकार के सङ्कल्प-विकल्पो के समुदाय का नाम ही मन है। सच है मन सङ्कल्प-विकल्पो की गठरी है। साधक जब तक संसार के

समस्त नाम-रूपोंको असत्य, अनित्य एवं अत्यन्त दु:ख-दायी नहीं समझ लेता तब तक उसका विचारोंसे भर-पूर मन अन्तर्मुखी नहीं हो पायेगा। इस विषय में स्मरण रहे कि मन का पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी हो जाना ही 'विजितात्मा' कहलाता है। यह कार्य कोई बच्चों का खेल नहीं है। जब कोई तीव्र विरागी दिल-ओ जान से (पूर्ण मनोयोगसे) साधना में अहर्निश जुट जाता है तब कुछ समय के पश्चात् वह अपने मन पर आप ही शासन पाता है अर्थात् उसका मन स्व+अधीन=स्वाधीन हो जाता है न कि पर+अधीन=पराधीन। स्वाधीन किया हुआ मन ही निष्काम कर्मयोग में लग कर न केवल अपना अपितु अनेकों प्राणियोंका अत्यधिक लाभ करने में सफल होता है।

इसके पश्चात् भगवान्‌जी उपरोक्त श्लोक में सम-झाते हुए कह रहे हैं कि निष्काम कर्मयोगी अनिवार्य रूप से 'जितेन्द्रिय' होना चाहिये। अर्थात् उसको अपनी समस्त इन्द्रियों पर पूर्ण निग्रह होना चाहिये। कहने का अभिप्राय यह कि वही इन्द्रियाँ जो सांसारिक विषय में जन्म-जन्मान्तरों में लगी हुई थी वे ही अब विवेक और विराग के उदय हो जाने के फलस्वरूप, उनका सर्वथा त्याग कर पारमार्थिक-विषयों में जुट जाती हैं। इसको

हम सुस्पष्ट करते हुए यों भी कह सकते हैं कि निष्काम कर्मयोगी के तन, मन तथा इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण प्रभु-परायण हो जाती हैं। साधक का स्वार्थपना उड़ जाता है और उसके जीवन का अब एकमात्र उद्देश्य हो जाता है—

'सर्व हिताय सर्व सुखाय'

निःसन्देह इन उक्त विशेषताओं से सम्पन्न व्यक्ति को हम निष्काम कर्मयोगी के नाम से पुकार कर एक विशेष आनन्द एवं गौरव का अनुभव करने लगते हैं।

—※※—

जय भगवद् गीते !

जय भगवद् गीते !!

जय भगवद् गीते !!!

—※※—

※ गीता-गौरव ※

"गीता ईश्वरों के भी ईश्वर परम महेश्वर का दिव्य संगीत है। कोई मनुष्य किसी भी धर्म को मानने वाला हो, उसे इस ग्रन्थ से प्रगाढ़ ईश्वरीय भाव मिले बिना नहीं रह सकते।"

(८३)

* अनेकमें एकका दर्शन *

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

गीता–५/७

अर्थ—जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाला है और सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

—अर्थात्—

'शुद्ध मन जितेन्द्रिय जो आत्मा पर पाये जय।
कर्म-कर्ता, हरि सम, है कर्म बन्धन से परे॥"

प्रिय गीतानुयायी बड़भागी पाठक!

गत सप्ताह के अङ्क में हमने इस बात पर चर्चा की थीं कि योगयुक्त, शुद्ध अन्तःकरण एवं जितेन्द्रिय होने के फलस्वरूप कर्मों में रञ्चकमात्र भी आसक्ति न होने के कारण कर्म करने पर भी कर्मयोगी के अन्तःकरण पर कर्म करने की प्रतिक्रिया रूप में संस्कार नही पडते। कितनी अनोखी एवं लाभकारी बात बताई है हमारे उच्चकोटि के परमपिता जगद्गुरु भगवान् श्री कृष्णजी ने! अब इसी तथ्य एवं सत्य को और भी

युक्तियुक्त बताते एवं विस्तार करते हुए हमारे पूज्यपाद इष्टदेव भगवान्‌जी अपने श्रीमुख से कह रहे हैं कि तुम यदि कर्म करते हुए इनके विषैले संस्कारों से बचना चाहते हो तो प्रत्येक प्राणी में मुझे (भगवान्‌जी को) अनुभव करने की भागीरथ चेष्टा करो। यदि आप इस बात को पक्का कर लेंगे तो कर्म करने में न राग होगा न द्वेष, न सिद्धि की ओर ध्यान होगा न असिद्धि की ओर, न मान की ओर न अपमान की ओर, न जय की ओर न पराजय की ओर। इन नाना प्रकार के द्वन्द्वोंसे छूटते हुए केवल 'सर्वहिताय सर्वसुखाय' के दृष्टिकोणको सन्मुख रखकर कर्म करते रहोगे तो न केवल इस शुद्ध और शुभ भावनासे अन्तःकरण ही निर्मल होगा अपितु परलोक भी बनता चला जायेगा और मानसिक वृत्ति दिन-प्रतिदिन सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती चली जायेगी, जिसके फलस्वरूप वह मुबारिक दिन भी निकट आन पहुँचेगा जबकि निष्काम कर्मयोगी अपने इष्टदेव भगवान् जी के देवदुर्लभ दिव्य दर्शनों का अधिकारी बन जायेगा।

स्मरण रहे—ऐसा स्वभाव बनाना जितना सुनने और पढ़ने को सुगम प्रतीत होता है उतना अपनाने में नहीं क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों के सतोगुण, रजोगुण एवं

तमोगुण के मिश्रित संस्कार केवल सुनने एवं पढने से ही भस्मीभूत नहीं होते अपितु निरन्तर अटूट श्रद्धा तथा बड़े उत्साह के साथ निष्काम कर्मयोग में जुट जाने से होते हैं। आजकल की विचित्र, अद्भुत एवं कौतुकपूर्ण परिस्थितियो में निष्काम कर्म करना कोई उपहास नही है। इसके लिये इष्टदेवजीको विशेष अतिविशेष कृपा अनिवार्यरूप से चाहिये ही। अतः 'हर में हर' (All-in-All) को देखने के लिये प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त हो कर अपने घर के किसी एकान्त स्थान में बैठ कर बड़ी विनम्रता एवं प्रेमपूर्वक अपने अन्तर्यामी से इस तथ्य को सुचारु रूप से अपनाने के लिये बारम्बार हार्दिक प्रार्थना करनी चाहिये। याद रहे—प्रार्थना केवल शब्द एवं वाणी के चलावेका नाम नही है अपितु प्रार्थना में हृदय को इतना उडेल दिया जाये कि जीव आत्मविभोर एवं आत्म-विस्मरण हो जाये और नेत्रोसे प्रेमाश्रुओंकी दिव्य-धारा निरन्तर बहने लगे। सचमुच, ऐसी ही हृदयविदारक और हृदयस्पर्शी प्रार्थनायें प्रभु अवश्यमेव स्वीकार करते हैं। इस विषयमें किसी भारतीय कवि ने कितना ही अच्छा कहा है—

दिल से निकली हुई असर रखती है।
गो पर नहीं ताक़त-ए परवाज मगर रखती है॥

(८४)

★ तत्त्ववेत्ता-कर्म में अकर्मी ★

—❀—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
गीता—५/८

अर्थ—तत्त्व को जानने वाला योगी ऐसा मानता है कि 'मैं कुछ भी नही करता ।'

—अशआर—

हक़ीक़त का है जिसको इल्म-ओ यक़ीं,
समझता है मै कुछ भी करता नहीं ।

प्रिय गीता-ज्ञान जिज्ञासु !

सर्वलोकमहेश्वर सृष्टिकर्ता भगवान्‌जीने तीन गुणों के सम्मिश्रण से सृष्टि की रचना की है । ये तीन गुण हैं—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण । प्रत्येक छोटे-बड़े, सामान्य-विशेष प्राणी मे न्यूनाधिक मात्रा मे तो ये तीनों ही गुण विद्यमान होते हैं, परन्तु इनमें से एक गुण प्रधान हो जाता है । इसी प्रधान गुण के अनुसार ही जीव का स्वभाव बनता है । यदि तमोगुण प्रधान हुआ तो वह दीर्घसूत्री, प्रमादी एव वाचाल बन जाता है, रजोगुण की वृद्धि पर जीव कञ्चन-कामिनी-कीर्ति

तक ही सीमित रहकर इसी की प्राप्ति के लिये दिन-रात एक करता रहता है और जब अनेक जन्म के पुण्य पुञ्ज एक जन्म में एकत्र हो जाने से किसी भाग्य-वान् एवं पुण्यवान् मानवमें सतोगुण की बहुलता होती है तो वह स्वभावतः ही मननशील, धार्मिक, विवेकी, विरागी एवं आत्मानुगामी बन जाता है। सतोगुण से सम्पन्न होने के कारण अब उसमें रह-रह कर सीमित रूप से अपने शरीर और व्यापक रूप में विशाल सृष्टि की वास्तविकता को जानने एवं पहचानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। बार-बार उसकी मन-बुद्धि में यह प्रश्न उठता रहता है कि किसके कारण से सब शरीरों में चहल-पहल है और किसके निकल जाने के पश्चात् सब जड एवं मुर्दा बन कर रह जाते हैं। सोचते, विचारते एवं ध्यान की गहराई में उतरते हुए वह जा पहुँचता है देह, मन एवं बुद्धि से अतीत अपने यथार्थ स्वरूप असङ्ग आत्मा में जहाँ उसे समझ आती है कि वस्तुतः आत्मा ही उसका अपना-आप (Real-self) है। अतः देह-मन-बुद्धि से सम्बन्ध-विच्छेद करता हुआ अब वह सदा-सर्वदा आत्मा से ही सन्तुष्ट एवं परितृप्त रहता है। परन्तु यह नहीं कि इस अवस्था में वह कोई कर्म ही नहीं करेगा। कर्म तो वह करेगा ही क्योंकि श्री-गीताजी का सुस्पष्ट फरमान है कि कोई भी प्राणी क्षण-

भर कर्म किये बिना नही रह सकता । (गीता—३ । ५) । हां, यह अवश्य है कि वह कर्म करते हुए अपनेको कर्ता नही मानता अपितु इस वास्तविकता में सुस्थिर हो जाता है—

'आत्मानं अकर्तारम्'

गीता-१३/२९

-अर्थात्-

कर्म होता है आत्मा की शक्ति से ।
खुद आत्मा कुछ नहीं करता ।।

बुद्धि, मन एवं तन के समस्त व्यवहारो में वह अपने-आपको द्रष्टा अथवा साक्षी मान लेता है अतः कर्म करते हुए भी कूटस्थ, तटस्थ, निर्लिप्त एवं असङ्ग बना रहता है। उसके द्वारा कर्म केवलमात्र दूसरो के कल्याण के लिये अथवा 'सर्व हिताय सर्व सुखाय' ही होते हैं। यद्यपि बाह्य रूप में तो वह परोपकारार्थ खूब कार्यरत रहता है तथापि यदि पैनी दृष्टि से अवलोकन किया जाये तो वह 'कर्म में अकर्म' की सर्वोत्कृष्ट अवस्था में स्थित होता है। यहां तक कि समस्त छोटे-बड़े दैनिक व्यवहारो यथा—खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, लेना-देना, बोलना-चालना, सोना-जागना प्रभृति में भी वह यही समझता है कि इन्द्रियां ही

अपने-अपने अर्थों में विचर रही या व्यवहार कर रही हैं। वास्तवमें मैं न तो कुछ कर रहा हूँ और न ही इन से कुछ सम्बन्ध ही है। फलतः गीता-उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण जीव को इस उच्चकोटि की अवस्था को देखते हुए अपनी दिव्य-वाणी श्रीगीताजी में कह रहे हैं—

'तत्त्वदर्शी योगी सुनता, देखता छूता हुआ।
खाता चलता बोलता और सांस भी लेता हुआ॥
समझ ले सब अङ्ग अपने कर्म में है वर्तते।
कर्म को करते हुए भी कर्म से हूँ मैं परे॥'

—★★—

गीता–गौरव

"गीता-ज्ञान के अमृत–सागर के पास जो कोई जायेगा, वह अपनी तृप्ति और शान्ति के लायक अपने पात्रभर जल अवश्य ले आयेगा कोई प्यासा वहाँ से निराश नहीं लौट सकता।"

—❀❀—

"गीता का उद्देश्य कर्तव्यविमुख मनुष्यको कर्तव्य पथ पर निर्विघ्न बढ़ा कर साधना के मार्ग पर ठीक-ठीक चला कर उसे जीवन-संग्राम में विजयी बनाना है।"

—❀❀—

कारी बना देते हैं और मानव अपने इष्टदेव भगवान्‌जी के दिव्य-दर्शन करके सदा-सदा के लिये कृतकृत्य हो जाता है ।

हमारे परम हितैषी जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज इसको एक दृष्टान्त द्वारा समझा रहे हैं कि जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहता है, जल उस पर नही ठहर सकता;

-ठीक इसी प्रकार-

निष्काम कर्मयोगी एवं प्रभु-परायण भक्त को इस संसार में कार्यों को पूरा करनेके लिये कमलके पत्तेकी वाईं बिलकुल अनासक्त एवं निर्लेप रहने का अनमोल ढङ्ग सीखना ही होगा । श्रीगीताजी के इस योग को निष्काम कर्मयोग से पुकारा जाता है । इस योग का स्वाध्याय एवं मनन श्रीगीताजीके अध्याय ३, ४ एवं ५ के अनुसार बारम्बार गम्भीरता एवं एकाग्रतापूर्वक करते हुए तथा अपनी शङ्काओं का समाधान भी करते हुए इस कर्मयोग में बिना विलम्ब जुट जाना चाहिये और वह भी एक लम्बे समक तक । तब, केवलमात्र तब ही अहोभाग्यशाली साधक अपने इष्टदेव भगवान्‌जी के दिव्य-दर्शनों का अधिकारी बन जायेगा ।

'पढ़ो, सोचो, समझो और करो'

(८६)

※ कर्मयोग–साधन न कि साध्य ※

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

गीता—५/११

अर्थ—कर्मयोगी ममत्व बुद्धिरहित केवल, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

—अर्थात्—

'मन, बुद्धि, तन से और केवल इन्द्रियों से भी कभी ।
तज संग, योगी कर्म करते आत्म-शोधन-हित सभी ॥'

प्रिय मननशील गीतानुयायी पाठक !

जिस किसी भी सौभाग्यशाली मानव को अपने कल्याण का दृढ़ निश्चय हो चुका है उसे भगवान्‌जी के अनमोल एवं अत्यन्त कल्याणकारी उपरोक्त वचनामृत के अनुसार मनसा-वाचा-कर्मणा एक हो कर सर्वप्रथम निष्काम कर्मयोग में जुटना ही होगा, इसके अतिरिक्त उसके लिये और कोई साधन हो ही नहीं सकता।

—क्योंकि—

साधक को अपने इष्टदेव भगवान् के दिव्य-दर्शन

प्राप्त करने के लिये अनिवार्य-रूप से प्रभु-अर्पित बुद्धि से समस्त कर्म करने ही होंगे। स्मरण रहे—निष्काम कर्मयोग के बिना आज तक और भविष्य में भी किसी का अन्तःकरण न निर्मल हुआ है और न ही होगा। अहंवृत्ति से ही अन्तःकरण पर दूषित संस्कार पड़ते हैं और इनका नाश होता है निष्काम भाव से कर्म करने से। निष्काम कर्मयोग बिना ऊबे हुए मन से एक लम्बे समय तक करना होगा। केवल प्रभुकी सन्तुष्टि के लिये बिना किसी आसक्ति एवं ममता के अहर्निश कर्म करते ही जाना चाहिये। केवल इसी उत्तम भावना से—

'सर्व हिताय सर्व सुखाय'

सिद्ध होता है और इसी 'सर्वभूतहिते रताः' की भावना से ही अन्तःकरण सदा-सर्वदा के लिये निर्मल हो जाता है। अतः अपने शरीर, मन एवं बुद्धि को निष्काम कर्मों में बड़े उत्साह एवं तत्परतापूर्वक लगा देना चाहिये। कर्मक्षेत्र मे भले ही उसे मान मिले अथवा अपमान, सर्दी हो किंवा गर्मी, लाभ हो अथवा हानि इत्यादि इन नाना प्रकार के ऐहिक द्वन्द्वोंमें किसी भी दशा में विचलित नही होना चाहिये। मन में यह भाव सदा-सर्वदा के लिये सुस्थिर कर लेना चाहिये

काम जो करना हो हमको, फ़िकर हो उस काम की।
ख्वाइशें बेकार हैं तकलीफ़ की आराम की॥
बढ़ गया आगे कदम तो, प्रेमी क्यों पीछे हटे।
इब्तदा-ए इश्क है परवा न कर इन्जाम की॥

—फलतः—

भगवान्‌जी फ़रमा रहे हैं कि इस प्रकार निरन्तर निष्काम कर्मयोग मे जुटे रहने से अन्तःकरण पर पड़े हुए जन्म-जन्मान्तरों के दूषित संस्कार भस्मीभूत हो जायेंगे और साधक देर चाहे सवेर अपने इष्टदेव भगवान्‌जी के देव-दुर्लभ दिव्य-दर्शनो का अधिकारी बन जायेगा। अतः साधक को भगवान्‌जी का यह फ़रमान सदा ही स्मरण रखना चाहिये कि—

जो योगी हैं करते हैं निष्काम काम,
नहीं काम में कुछ लगावट का नाम।
लगायें वो तन मन खिरद और हवास,
कि दिल की सफाई से हों रूशनास॥

(८७)

* प्रभु परायण-सदा मुक्त *

—❀❀—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

गीता—५/१७

अर्थ—जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही जिनकी निरन्तर एकीभाव है स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित हो कर अपुनरावृत्ति को अर्थात् परमगति को प्राप्त होते हैं।

—अर्थात्—

'लीन होकर उसमें जो मन और बुद्धि लाये हैं।
वह ही ज्ञानी ज्ञान द्वारा परम गति को पाये हैं ॥'

अहोभाग्यशाली गीतानुयायी पाठक !

यह बात निर्विवाद सत्य है कि यह संसार बहुत ही विचित्र, अद्भुत एवं कौतुकपूर्ण है जो कि अनित्य होने के कारण अत्यन्त दुःखी बना हुआ है। अतः कोई भी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने वाला मनुष्य इस संसार के प्राणी-पदार्थों के अधीन न होकर वह जिस किसी भी प्रकार से सदा-सर्वदा के लिये इस आवा-

गमन के अत्यन्त क्लेशपूर्ण चक्कर से यथाशीघ्र छूटना चाहता है। हमारे दयालु-कृपालु जगद्गुरु भगवान् श्री-कृष्णचन्द्रजी महाराज श्रीगीताजी में अत्र-तत्र-सर्वत्र इस आवागमन के महारोग से छूटने के अनेक उपाय प्रत्येक की रुचि के अनुसार नाना प्रकार के साधनों द्वारा सुस्पष्ट करते हैं।

इस उपरोक्त श्लोक में हमारे गीताकार भगवान् जो इसी आवागमन से छूटने के साधन बतलाते हुए अपने श्रीमुख से अर्जुन के निमित्त हम सब साधकों, भक्तों एवं जिज्ञासुओं को कह रहे हैं कि मुक्त तो वही हो सकता है जिसने अपनी बुद्धि को पूर्णरूपेण अपने इष्टदेव के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया है। कहने का अभिप्राय यह है कि अब वह अपनी बुद्धि से एक ही निश्चय कर लेता है कि येन-केन-प्रकारेण भगवान् जी के श्रीचरणों के दिव्य-दर्शन प्राणपण से करने हैं, करने ही हैं चाहे इसके लिये उसे कितना ही बड़ा बलिदान क्यों न करना पड़े। अब इस उच्चकोटि की सराहनीय अवस्था में वह अपनी बुद्धि से और किसी प्रकार का भी ऐहिक एवं पारलौकिक निश्चय नहीं करना चाहता।

मुक्ति प्राप्त करने की दूसरी शर्त जो भगवान् जी

ने लगाई है, वह है अपने मन को सदा-सर्वदा के लिये अपने इष्टदेव को सहर्ष समर्पित कर देना अर्थात् मन का स्वभाव बन चुका है कुछ-न-कुछ सोचने विचारने का परन्तु जब कोई भी अहोभाग्यशाली साधक अपने मन को प्रभु के अर्पण कर देता है तब वह प्रभु के नाम, गुण एवं प्रभाव के चिन्तन के अतिरिक्त और कुछ भी मनन नहीं करता। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, आते-जाते इत्यादि दैनिक कार्यों को करते समय भी उसका मन केन्द्रीभूत रहता है, इतस्ततः कदापि-कदापि नहीं घूमता। इसे ही कहा जाता है— मानसिक पूर्ण समर्पण।

तीसरी शर्त मुक्ति की भगवान्‌जी लगा रहे हैं— सदा-सर्वदा के लिये अपने भगवान्‌जी में ही निष्ठावान् होना। अर्थात् अपने भगवान्‌जीके अतिरिक्त और किसी भी ऐहिक एवं पारलौकिक नाम—रूप में रञ्चकमात्र भी विश्वास न करना क्योंकि—

'यत् दृष्टम् तत् नष्टम्'

का तथ्य उसके वैराग्यपूर्ण अन्तःकरण में भली प्रकार अपना सुचारु स्थान प्राप्त कर चुका होता है। उसके रोम-रोम से यही ध्वनि नैसर्गिक रूप से निःसृत होती रहती है कि—

क्या मांगूं कुछ थिर न रहाई।
देखत नैन चला जग जाई ॥

चौथी अन्तिम शर्त हमारे भगवान्‌जी मुक्ति प्राप्त करने के लिये लगा रहे हैं—

—प्रभु-परायणता—

अर्थात् ;मनसा—वाचा-कर्मणा एक होकर अपने अन्तर्यामी एवं सर्वव्यापी भगवान् जी के परायण हो जाना, अपने भगवान्‌जी का बन जाना और अहर्निश उन्हीं के ही चिन्तन एवं गुणगान में लगे रहना। ऐसे उच्चकोटि के भक्तों को अब संसार की कोई भी दूषित वृत्ति स्पर्श नही कर सकती और न ही उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता विलोड़ित कर सकती है। प्रभु-परायण यदि संसार-पलायन हो जायें तो इसमें उनका रञ्चकमात्र भी दोष नही माना जाता क्योंकि प्रभु के प्रेम का उनके अन्तःकरण मे इतना दरिया उमड़ पड़ता है कि जिसमें स्वाभाविक एवं स्वतः ही संसार के समस्त नाम-रूप भागते एवं बहते हुए दिखाई देने लगते है। जैसाकि बीसवीं शताब्दी के उच्चकोटि के ब्रह्मज्ञानी 'स्वामी रामतीर्थ जी महाराज' फरमाया करते थे—

ज्ञान की आई आंधी रे मित्रो !
ज्ञान की आई आंधी ।
सर्वभुलानी भ्रम की टाटी,
क्या रानी क्या बांदी ॥
ज्ञान की आई आंधी रे मित्रो !
ज्ञान की आई आंधी !!

सचमुच, ऐसे ही उच्चकोटि के सराहनीय एवं अनुकरणीय भक्त भगवान् जी के देव-दुर्लभ दर्शनों को प्राप्त करके सदा-सर्वदा के लिये इस 'अनित्यम् असुखम्' मर्त्यलोक से मुक्ति के परले तट पर पहुँच कर अपने इष्टदेव में एकमेक हो जाते हैं । इसीलिये तो कवि अपनी अलौकिक मस्ती में झूमकर इस प्रकार कह रहा है—

बड़ा मुश्किल है उस तक पहुँचना जनाब ।
पर जाकर लौट आना और भी मुश्किल है ॥

अतः स्मरण रहे, ऐ गीता–प्रेमी !
'सब लोकों तक आवागमन गीता कहती सोये ।
प्रभु-परायण भक्त का आवागमन न होये ॥'
जय भगवत् गीते !
जय भगवत् गीते !!

(८८)

* समदर्शी *

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
गीता-५/१८

अर्थ—वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी ही होते हैं।

-अर्थात्-

विद्या-विनय-युत द्विज, श्वपच, चाहे गऊ, गज श्वान है।
सबके विषय में ज्ञानियों की दृष्टि एक समान है॥

प्रिय गीतानुयायी मननशील पाठक !

यह बात तो निःसन्देह सत्य है कि यह मन एवं इन्द्रियगोचर संसार अतिविचित्र एवं कौतुकपूर्ण है। कण-कण इसका क्षण-क्षण में पूर्णगति के साथ परिवर्तित होता चला जा रहा है। सचमुच बड़े अचम्भे में डालने वाला है यह अबाधगतिसे हो रहा परिवर्तन ! द्वन्द्वों से भरपूर है यह जगत्। एक के बाद एक करके द्वन्द्व आ-जा रहे हैं और नये-नये द्वन्द्वो को स्थान देते चले जा रहे हैं। यह क्रम तब से चल रहा है जब से

स्रष्टा ने सृष्टि को निर्मित किया है और यह क्रम प्रकार इसी प्रकार चलता ही चला जायेगा जबतक कि स्रष्टा इस सृष्टि को अपने में लीन नहीं कर लेते। कितनी भिन्नता लिये हुए है यह अचम्भे में डालने वाला संसार! कहीं जडवर्ग है तो कहीं वनस्पति वर्ग, कहीं पशु वर्ग है तो कहीं मनुष्य-वर्ग, कहीं सुर-वर्ग है तो कहीं असुर और फिर इस एक-एक वर्ग में भी अनेक प्रकार हैं। किसी में रजोगुण प्रधान है तो किसी में तमोगुण की अधिकता है और किन्हीं-किन्हीं में सतोगुण का प्राबल्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इन्ही गुणों के फलस्वरूप कोई संसार का प्यारा है, कोई प्रमाद में ग्रस्त है तो कोई भगवान् के चिन्तन में तल्लीन !

इतनी भिन्नता एवं अनेकता होते हुए भी एक ऐसी सत्ता है जो सब वस्तुओ और प्राणियो मे सम्यक् रूप से विराजमान है। जिनमे सतोगुण की प्रबलता हो जाती है वे ब्रह्माकार वृत्ति का निरन्तर अभ्यास करते हुए मल, विक्षेप एवं आवरणों को निर्मूल कर देते हैं तथा निर्विकल्प समाधिमें तल्लीन हुए-हुए नानत्व में एकत्व, भिन्नता में अभिन्नता, अनेक में उस एक को अनुभव करने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर

लेते हैं। तब, केवलमात्र तब ही उन समदर्शी ब्रह्म-ज्ञानियों के लिये यह ससार की भिन्नता एवं अनेकता सदा-सदा के लिये मिट जाती है। इन अहोभाग्यशाली जीवों के लिये संसार की विचित्रता एवं बहुरङ्गता नहीं रहती। यहाँ-तहाँ-वहाँ इसमें-उसमें नीचे ऊपर, भीतर-बाहर प्रत्येक पदार्थ प्राणी में उसी एक अपने स्वरूप सच्चिदानन्द को अनुभव करके वह सदा-सर्वदा के लिये तृप्त हो जाते हैं और अवशेष जीवन मे अपने सम्पर्क में आने वालो को उत्तम पाठ, जो कि विकास की अन्तिम सीमा है, पढा,समझा एव अनुभव करवा देते हैं। कई भाग्यशाली जीव इस अनेक में एक को स्थिर कर कृतकृत्य हो जाते हैं। धन्य है ऐसे तरन-तारन का जीवन! धन्य है उनका धरती पर पग रख कर दूसरो के अविद्या रूपी अन्धकार को दूर करना! धन्य-धन्य है उनका उपदेश एवं आदेश! धन्य है सच-मुच, वह धरती जहाँ ऐसे समदर्शी पग रखे हुए हैं। बड़े भाग्यो का चिह्न है ऐसे समदर्शियो का सम्पर्क!

जय भगवत् गीते!

(८६)

अन्तवान्—दुःखवान्

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

गीता—५/२२

अर्थ :—जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते है तो भी दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नही रमता।

प्रिय गीतानुयायी पाठक!

भारतीय कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ वर्ष का पल की खबर नहीं॥

कितना विचित्र है आज का मानव! दिन-रात गर्दनतोड़ परिश्रम कर रहा है संसार के प्राणी-पदार्थों को प्राप्त करने के लिये! कार्यालय से चक्की पीस कर आता है तो 'Over-Time' लगाकर और भी पीसनेकी कोशिश करता है। फिर भी बेचारेको मानसिक-शान्ति नही मिलती। कुछ सोचना तो चाहिये कि आखिर इतनी भगदौड़ क्यो! क्यो आज का अद्भुत-मानव धन-

जाने रूप में यह पाठ पक्का करता हुआ अनायास ही बोलता फिरता है—

यह करता हूँ यह कर लिया यह कल करूँगा मैं।
इस फ़िकर-ओ इन्तज़ार में शाम-ओ सहर गई॥

जी हाँ, यह सब दौड़-धूप स्थायी आनन्द को प्राप्त करने के लिये ही हो रही है परन्तु अनुभव में बात इसके बिल्कुल विपरीत ही दिखाई देती है। ऐहिक नाम-रूपों को प्राप्त करने के फेरमें जो थोड़ी-सी शान्ति इसके पास होती है, भौंदू मानव वह भी गँवा बैठता है। जितना पुरुषार्थ स्थायी शान्ति को प्राप्त करने के लिये किया जा रहा है सचमुच, बात इसके बिल्कुल विपरीत होती जा रही है और कवि की यह उक्ति पूर्ण-रूपेण आज प्राय: प्रत्येक भूल-भुलैयों में पडे हुए मानव के ऊपर अक्षरशः लागू होती नज़र आती है—

दिल के फफोले जल उठे सीना के दाग से।
इस घर को आग लग गई घर के चिराग से॥

—अथवा—

मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।

सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी क्यों यह शान्ति को प्राप्त नही कर पा रहा, इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न उठे बिना रहता नही। हमारे परम हितैषी जगद्गुरु भगवान्

श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज इस छोटे से श्लोक में इसका युक्तियुक्त उत्तर दे कर समाधान कर रहे हैं कि जिस वस्तु का आदि है उसका अनिवार्य रूप से अन्त भी होगा और जो प्राणी और वस्तु आदि और अन्त वाले हो वे भला जीव को स्थाई शान्ति दे भी कैसे सकते है ! आज का कौतुकी मानव इस तथ्य तथा सत्य पर विचार न करता हुआ अन्धाधुन्ध प्राणी-पदार्थों को सुख-बुद्धि से प्राप्त करने की मानो एक दूसरे से होड़ लगा कर भाग रहा है। लेकिन अन्त में पौ बारह के स्थान पर पड़ते तीन काने ही है।

दूरदर्शी, बुद्धिमान् और मननशील ज्ञानीजन इन प्राणी-पदार्थों के चक्कर मे न पड़ कर आत्मानुभव के लिये भागीरथ पुरुषार्थ करते है और अन्ततः अपने ही स्वरूप में तल्लीन हो कर सदा-सर्वदा के लिये स्थाई शान्ति को प्राप्त करने में सुचारु रूप से सफल मनोरथ हो जाते हैं। मेरे प्रात. स्मरणीय, वन्दनीय, परम श्रद्धेय एव ज्ञानसम्राट् गुरुदेव स्वनामधन्य 'स्वामी राम तीर्थजी महाराज' इस तथ्य को अति संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार फरमाया करते थे :—

जब तलक अपनी समझ इन्सान को आती नहीं।
तब तलक दिल की परेशानी कभी जाती नहीं॥

(६०)

* काममुक्त – ईशयुक्त *

शक्नोति इह एव यः सोढुम् प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवम् वेगम् सः युक्तः सः सुखी नरः ॥

गीता –५ २३

–अर्थ–

जो साधक इस मनुष्य शरीर में, शरीर का नाश होने से पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेगको सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी नर है ।

–अर्थात्–

"जो काम-क्रोधावेग सहता है मरण पर्यन्त ही ।
संसार में योगी वही नर सुख सदा पाता वही ॥"

प्रिय गीताध्यायी मननशील साधक !

काम क्रोध से मुक्त जो, भक्त कहलाये सोय ।
अन्त समय प्रभु-युक्त हो, आवागमन न होय ॥

निःसन्देह, भगवान्‌जी के उपरोक्त अनमोल कथनानुसार यथार्थ रूप में वही सच्चा एवं पक्का भक्त है, जिसने शरीर के रहते हुए भजन, स्मरण, ध्यान एवं उच्च-कोटि की उपासना द्वारा अपने अन्तःकरण में जन्म-

जन्मान्तरों से स्थित नाना प्रकार के मनोविकारों को सदा-सर्वदा के लिये भस्मीभूत कर दिया है। ऐसे उच्च-कोटि के आदर्श एवं अनुकरणीय भक्त का अन्तःकरण बिल्लोर के शीशे के समान बिल्कुल निर्मल, विमल एवं पूर्ण स्वच्छ हो जाता है। अब नाना प्रकार की विचित्र एवं अद्भुत परिस्थितियो के आने पर तथा समय-समयानुसार प्रलोभनो (Temptations) के दिये जाने पर भी जो अपने पूर्व स्वभावानुसार इन मनोद्वेगो अर्थात् काम, क्रोध, मोह, लोभादिके जरा भर भी अधीन नही होता, वही, केवलमात्र वही इस कौतुकपूर्ण संसार के विचित्र आवागमन के चक्कर से सदा-सर्वदा के लिये छूट जाता है और अपने इष्टदेव त्रिलोकीनाथ के निकट पहुँच कर सायुज्य-मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ऐसे बड़भागी एवं अहोभाग्यशाली भक्त का फिर जन्म हो भी तो कैसे !

इस उच्चकोटि की उपरोक्त अवस्था को प्राप्त करके भक्त किंवा साधक सदा-सर्वदा के लिये अपने में तल्लीन हुए रहते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि वे अपनी सुख-शान्ति का केन्द्र अपने से बाहर न बना कर अपने में ही रखते हैं।

(Ever ingoing and never outgoing)

सचमुच, ऐसे अहोभाग्यशाली भक्त स्थायी शान्ति

को प्राप्त कर के अपने में सन्तुष्ट, तृप्त एवं मग्न रहते है। ऐसे ईश-प्राप्त महापुरुषों के जीवन की दिव्य झांकी प्रस्तुत करते हुए हमारे भारतीय उच्चकोटि के कवि क्या ही अच्छा लिखते है:—

(१)

हक के बन्दे को रहा दुनियां से कोई काम नहीं।
कैद से छूट गया दाना नहीं दाम नहीं॥

(२)

ख्वाइशें सारी मिटीं, रंग बे-रंग चढ़ा।
बे पिये मस्त हुआ, साकी नहीं जाम नहीं॥

(३)

नंग और नाम की परवाह नहीं उसको रही।
वो मिला जात में, अब जात नहीं नाम नहीं॥

(४)

उस महल पर चढ़ा जिसका नहीं कुछ भी निशां।
दर नहीं खिड़की नहीं जीना नहीं बाम नहीं॥

(५)

है समां एक-सा सब ऐसे बशर को यारो।
जल्दी और देर नहीं, सुबह नहीं शाम नहीं॥

(६)

राम दुनियाँ का नहीं उसकी नजर में यारो।
राम अब राम हुआ, वो तो रहा अब राम नहीं ॥

(७)

सबमें रह कर भी फकत मिलना है वो एक से ही।
सब में रहता है मगर खास नहीं आम नहीं ॥

(८)

जिस्म तो रखता है पर फिक्र नहीं उसकी उसे।
दिल तो रखता है, मगर 'दाल' नहीं 'लाम' नही॥

(९)

सिर पे उसके है हमेशा ही हुमाँ का साया।
है 'शहन्शाह' मगर मुल्क नहीं दाम नहीं ॥

—**—

आह, इससे बढ़ कर और भाग्यशाली भला कौन होगा तथा इससे बढ़ कर और किस माई के लाल एवं गुरु के बाल को उच्चकोटि की शान्ति नसीबमें आयेगी। तभी तो गुरुदेव 'स्वामी रामतीर्थजी महाराज' फ़रमाया करते थे —

जब उमड़ा दरिया उल्फ़त का,
हर-चार तरफ आबादी है।

हर रात नई इक शादी है,
हर रोज मुबारक बादी है ॥

सचमुच, उसके भीतर भी शान्ति, उसके बाहर भी शान्ति; उसके नीचे भी शान्ति, उसके ऊपर भी शान्ति, उसके अगल में शान्ति, उसके बगल में शान्ति; उसके सम्पर्क में शान्ति, उसके वातावरण में शान्ति; उसके पिण्ड में शान्ति, उसके ब्रह्माण्ड में शान्ति; उसके वायु-मण्डल में शान्ति, उसके हर स्वाँस, हर बोलमें शान्ति; हर चाल में शान्ति एवं हर चितवन में शान्ति ! निःसन्देह ऐसे प्रभुयुक्त उच्चकोटि के भक्तो को छोड़ कर शान्ति भगवती कही डेरा डाले भी तो कैसे और कहाँ डाले ! तभी तो कहा गया है—

खुदा को पूजने वाले मुजस्सम प्यार होते हैं।
जो मुनकर हैं जमाने में जलील-ओ ख्वार होते हैं ॥

(६१)

* सर्वहिताय-सर्वसुखाय *

—❀❀—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

गीता—५/२५

अर्थ—जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियो के हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चल भावसे परमात्मा में स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

—अर्थात्—

*"निष्काम जो कर आत्म-संयम, द्वन्द्व बुद्धि-विहीन हैं।
रत जीव हित में, ब्रह्म में होते वही जन लीन हैं॥"*

बड़भागी गीतानुयायी पाठक !

भगवान्‌जी के उपरोक्त बोल को सन्मुख रख कर किसी भारतीय कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है—

खुदा के आशिक तो हैं हजारों,
बनों मे फिरते हैं मारे-मारे।
मै उसका बन्दा बनूंगा,
जिसको खुदाके बन्दोंसे प्यार होगा॥
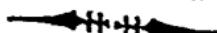
बहुजन जिसे अच्छा कहें, अच्छा न कहिये सोय।
बहुहित जिससे होये, अच्छा कहाये सोये॥

अनेक धार्मिक व्यक्ति अपनी-अपनी मानसिक रुचि एवं स्थिति अनुसार कर्म, भक्ति एवं ज्ञान में से किसी योग को पकड़ कर एवं एकान्त में बैठ कर निरन्तर योगाभ्यास करते-करते योग की चरम सीमा तक जा पहुँचते हैं और उसी निर्जन स्थान में रहते-रहते अपने इस नश्वर कलेवर को बिना स्पर्श हुए पुष्प की नाईं अथवा सर्प की कैंचुल की तरह त्याग कर अपने इष्टदेव की सत्ता में लीन हो जाते हैं। परन्तु दूसरी ओर वे भी महापुरुष होते हैं जो अपने भगवान्‌जी के देव-दुर्लभ दिव्य दर्शनों को प्राप्त कर के ऐहिक द्वन्द्वों का पूरे मनो-योग के साथ मुकाबला करते हुए सब प्राणियों के हितार्थ एवं लाभार्थ अहर्निश जुटे रहते हैं। सचमुच, सर्वहितैषी बने हुए न मान की चिंता है और न अप-मान का डर, न सर्दी न गर्मी से कोई वास्ता और न ही सुख-दुःख की ओर किञ्चित्‌मात्र भी नजर। बस एक ही धुन समाई हुई है उनके शुभ एवं शुद्ध अन्तः-करण में कि चाहे कितना भी बलिदान क्यों न करना पड़े, उसे सहर्ष करते हुए, भगवान्‌जी की इस सृष्टि में रहने वाले सब प्रकार के प्राणियों का—

(क) अधिक-से-अधिक प्राणियों का,

(ख) अधिक-से-अधिक समय के लिये;

(ग) अधिक-से-अधिक लाभ एवं हित।

जिस युक्ति से भी हो उसे यथाशीघ्र बिना विलम्ब किया जाये। ऐसे उच्चकोटि के भक्तों के गुण गाते हुए हमारे इष्टदेव जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज अपने श्रीमुख से इस उपरोक्त श्लोक द्वारा फ़रमा रहे हैं कि ऐसा 'सर्वहिताय–सर्वसुखाय' के दृष्टिकोण से जी रहा भक्त उनको अत्यन्त वल्लभ है तथा ऐसा ही अहोभाग्यशाली जीव निःसन्देह शरीर छूटने के पश्चात् निर्वाण पद को प्राप्त कर के सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है। निःसन्देह, ऐसे सर्वहितकामी परोपकारी सज्जन पुरुष भगवान्‌जी को प्रिय लगें भी तो क्यों न!

—क्योंकि—

(१) ये स्वयं भी जागते है और दूसरों को भी जगाते हैं।

(२) ये अपनी अविद्या को जलाते हैं और दूसरों की अविद्या को भी दूर भगाते हैं;

(३) ये अपने दुःखों को काटते हुए दूसरोके दुःखों को भी काटने के साधन बता देते हैं;

(४) ये स्वयं तो शान्त होते ही है परन्तु अनेक प्राणियों को भी शान्ति देने वाले अमर स्रोत बन जाते हैं;

(५) ये स्वयं भी तरते हैं और अनेकों को भव-सागर से तारने के कारण तरनतारन के शुभ नाम से पुकारे जाते हैं;

(६) सचमुच, ये मुंह बोलते, चलते, फिरते, सुख-चैन के घर कहलाते हैं;

(७) वास्तव में ये मधुर एवं शीतल जलरूपी सुख-शान्ति के चश्में बन जाते है। उनसे अनेकों को शान्ति के रूप में शीतल जल प्राप्त होता है एवं

(८) इन्हें यदि चलते-फिरते भगवान्‌जीके मन्दिर कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति न होगी।

—फलतः—

भगवान्‌जी स्पष्ट कह रहे हैं कि जो 'सर्वभूतहिते रताः' के स्वभाव को बनाये हुए हैं; वही, केवलमात्र वही मुक्ति प्राप्त करते है अन्य कदापि-कदापि नहीं।

जय भगवत् गीते!

(६२)

★ मन अधीन–प्रभु में लीन ★

—**—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितः ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

गीता—५/२६

—अर्थ—

काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्त वाले, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषो के लिये सब ओर से शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है।

—अर्थात्—

'यदि काम क्रोध विहीन जिनमें आत्मज्ञान प्रधान है।
जीता जिन्होंने मन सब ओर ही उन्हें निर्वान है॥'

प्रिय मननशील गीतानुयायी पाठक !

हमारे अलौकिक एवं दिव्य हिन्दु धर्म में प्रत्येक मानव के लिये मुख्य रूप से चार ही पुरुषार्थ बतलाये गये हैं, यथा—

(क) धर्म

(ख) अर्थ

(ग) काम

(घ) मोक्ष

इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि मानव धर्म-परायण होकर अर्थ (धन) का सञ्चय करता हुआ अत्यन्तावश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करके यथाशीघ्र मोक्ष प्राप्ति के लिये पूर्ण मनोयोग से जुट जाये तब ही उसका यह मानव जीवन सफल एवं सार्थक माना जाता है, अन्यथा निष्फल एवं व्यर्थ ही समझा जाता है। यहाँ हमारे करुणावरुणालय जगद्गुरु भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी महाराज अपने उपरोक्त अनमोल वचन द्वारा इस बात पर प्रकाश डालते हुए सुस्पष्ट विवरण दे रहे है कि कल्याणकामी एवं मुमुक्षु को येन-केन-प्रकारेण अपने अन्तःकरण को यथाशीघ्र नाना प्रकार की नकारात्मक वृत्तियों से स्वतन्त्र कर लेना चाहिये। इस अभ्यास में तनिकमात्र भी विलम्ब नहीं करना चाहिये।

जब बड़भागी एवं तीव्र विरागी साधक अपने अन्तःकरण को पूर्णरूपेण निर्मल, विमल एवं स्वच्छ करने में सुचारु रूप से सफल मनोरथ हो जाता है तब उसका अन्तःकरण पूर्ण एकाग्रता को प्राप्त करता हुआ ध्यानावस्था के योग्य बन जाता है। दिन-प्रतिदिन की अनवरत ध्यानावस्था की साधना के फलस्वरूप

(६३)

* विकार समाप्त–संसार समाप्त *

—❀❀—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
गीता—५/२८

—अर्थ—

जीती हुई है इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जिसकी ऐसा मोक्षपरायण मुनि (परमेश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला) इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह सदा मुक्त ही है।

—अर्थात्—

'वश में करे मन बुद्धि इन्द्रियाँ,
मोक्ष में जो युक्त है।
भय-क्रोध इच्छा त्याग कर,
वह मुनि सदा ही मुक्त है ॥'

अहोभाग्यशाली गीतानुयायी पाठक !

गुरुओं के भी महागुरु हमारे सन्त शिरोमणि 'कबीरजी' ने कहा है—

'चाह गई चिंता मिटी मनुवा बेपरवाह।
जाको कछु न चाहिये सो ही शहन्शाह ॥'

यह सिद्धान्त पहले के इन लघु लेखों में भली प्रकार से बतलाया गया है कि मनुष्य जन्म अपनी ही अधूरी इच्छाओं (अरमानो)को पूरा करने के लिये हुआ है परन्तु भोला मानव विशेष बुद्धि न होने के कारण यह नही जान पा रहा कि उसकी इच्छायें पूरी करनेसे कम हो रही हैं या बढ़तो जा रही हैं? विचारवान् इस तथ्य को बड़ी जल्दो जान लेता है कि इच्छाओंको पूर्ति से इच्छायें कम नही होती अपितु नित्यप्रति और-ही-और बढ़ती चली जाती है और मानवको दिन-प्रतिदिन व्याकुल, व्यथित एवं दु.खी बना कर एक अति विचित्र एवं अद्भुत दुविधा मे खड़ा कर देती हैं। अतः यह आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य भी हो जाता है कि हम अपने जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके अनमोल कथनानुसार इन न समाप्त होने वाली कामनाओं का उन्मूलन ज्ञान की तेज कटार से कर के शाश्वत एवं स्थायी शान्ति की खोज शान्ति के स्रोत अपनी ही आत्मा में करे और यह पूर्ण निश्चय रखें कि शान्ति भीतर है बाहर नही। भगवान्‌जी के इन क्रान्तिकारी शब्दों को 'Sign Board' की तरह मन के सामने लगा ले—

आत्मन्येवात्मना तुष्टः !

आत्मन्येवात्मना तुष्टः !!

-अर्थ-

आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है।

दिन दोगुना रात चौगुना प्रयत्न करते हुए अपने मन में अज्ञानता के कारण ठहरी हुई संसार सम्बन्धी समस्त इच्छाओ, ऐषणाओ को यथाशीघ्र बाहर निकालने का प्रयास करते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहङ्कार आदि इन मानसिक दूषिन एवं अत्यन्त हानिकारक वृत्तियो को, भगवान्‌जी के उच्चकोटि के ज्ञान को प्राप्त करके भस्मीभूत कर दीजिये। जी हाँ, तनिक भी विलम्ब न कीजिये और इन्हे शीघ्रातिशीघ्र जला कर राख बना दीजिये। इसी में हम सब का भला है।

—स्मरण रहे—

इन नकारात्मक वृत्तियो के अभाव में ही मनुष्य अपने अन्तःकरण को पूर्णतया स्थिर एवं शान्त पाता है और ऐसा स्थिर, विमल एवं निर्मल मन ही पूर्ण एकाग्रता का लाभ करता है और अपरोक्ष अनुभूति के योग्य हो जाता है। तब, केवलमात्र तब ही जीव इस संसार के महारोग आवागमन से सदा-सदा के लिये निवृत्त हो कर मुक्त हो जाता है। अत: आपको शान्तिदायिनी मुक्ति आपके अपने ही हाथो में है। अनुभव करने की उपरोक्त विधि को अपनाने की भरसक चेष्टा

कीजिये एवं भगवान्जी का उपरोक्त फरमान सदा स्मरण रखें —

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।

—अर्थात—

"न डर है न गुस्सा न लालच कहीं,
निजात उस मुनि को मिली बिलयकीं।

जय भगवत् गीते !!

—※※—

★ गीता-गौरव ★

गीता कहती है :—

"किसी से दुश्मनी न करो,

किसी दूसरे के धर्म की तौहीन न करो;

मुल्क, रङ्गत, जात आदि के लिहाज से किसी को भी अपने से नीचा या कम न समझो।

सब से प्रेम करो, लेकिन फिर भी अपने धर्म पर डटे रहो और अपने धर्म की रक्षा के लिये हँसते-हँसते जान कुरबान कर दो।"

—बाबा राघव दासजी

—※※—

(६४)

* भगवान्-सर्वहितैषी *

-**-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
गीता—५/२६

अर्थ—मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों का सुहृद अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्ति को प्राप्त होता है ।

-अर्थात्-

'जाने मुझे तप यज्ञ भोक्त लोक स्वामी नित्य ही ।
सब प्राणियों का मित्र जाने शान्ति पाता है वही ॥'

प्रिय मननशील गीताध्यायी साधक !

हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज पाँचवें अध्याय के २६वें श्लोक में इस अध्याय का उपसंहार करते हुए अपने श्रीमुख से फरमा रहे हैं कि जो कोई भी मेरा भक्त मुझे सब प्राणियों का अहैतुकी, सर्वलोकहितैषी एवं सर्वजीव परोपकारी न केवल मौखिक रूप से अपितु अन्तस्तल से अनुभव कर गया

है वह अपने-आपको बिना विलम्ब 'सर्वहिताय एवं सर्व सुखाय' के मन्त्र को पक्का करता हुआ सब जीवों की निःस्वार्थ सेवा में अहर्निश लग जायेगा। उसे लोक-संग्रहार्थ सेवा करने में एक विशेष प्रकार का रस एवं अकथनीय आनन्द आने लगता है। वह अब अपनी प्रत्येक क्रिया को अपने इष्टदेव भगवान् की पूजा समझता हुआ बड़े उत्साह एवं तत्परतापूर्वक करता है। इतना करता हुआ भी अपने-आपको उन कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता कदापि-कदापि नही मानता अपितु अपने को तुच्छ सेवक किंवा केवल निमित्तमात्र (Mere instrument) समझता है। ऐसी उच्चकोटिकी भावना के दृढ हो जाने से उसके अन्तःकरण पर मल, विक्षेप एवं आवरण कुछ ही समय में सदा-सर्वदा के लिये भस्मीभूत हो जाते हैं। अब वह स्फुटिक की नाईं शुद्ध अन्तःकरण वाला होकर अपने इष्टदेव के देवदुर्लभ दिव्य-दर्शनों का अधिकारी बन जाता है और अवशेष जीवन सब प्राणियो मे भगवान् को निहारता हुआ सबके हित के लिये शुभ एव मङ्गलकारी कर्म करता रहता है। उसके आदर्श एवं सराहनीय जीवन से एक छोटी-सी पिपीलिका एवं एक महान् व्यक्ति को भी पूरा-पूरा लाभ पहुँचने लगता है। सचमुच, यदि हम

उसको इस धरतीका ठण्डक पहुँचाने वाला चन्द्रमा कह दें तो कोई अत्योक्ति एवं अतिशयोक्ति न होगी। ऐसे महोभाग्यशाली मानव के लिये भगवान् जी अपने श्री-मुख से उपरोक्त श्लोक में कह रहे हैं कि वह व्यक्ति मुझे (भगवान् जी को) सब प्राणियों का अहैतुकी, सुहृद्द समझता हुआ तथा स्वयं भी निःस्वार्थ भाव से सब प्राणियो की यथामति एवं यथाशक्ति सेवा करता हुआ स्थायी एवं शाश्वत शान्ति को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है।

प्रिय पाठक !

क्या आप भी भगवान्‌जी के इस अत्यन्त उपयोगी वचन के अनुसार अपना जीवन लोक-संग्रहार्थ व्यतीत करने का दृढ निश्चय करेंगे और अपने-आपको कवि के इन उत्साहवर्धित शब्दों से प्रेरित करेंगे—

भरना भला है उसका जो अपने लिये जिये।
जीता है वो जो मर चुका इन्सान के लिये ॥

(९५)

यथार्थ संन्यासी

—❀❀—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निः न चाक्रियः ॥

गीता—६/१

अर्थ—श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न ले कर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं है ।

—अर्थात्—

"फल-आशा तज, कर्तव्य कर्म
सदैव जो करता वही ।
योगी व संन्यासी, न जो
बिन अग्नि या बिन कर्म ही ॥"

—❀❀—

आस खेती के पनपने की उन्हें कुछ हो न हो,
पर सदा पानी दिये जाते किसानों की तरह ।

प्रिय मननशील गीतानुयायी श्रद्धालु पाठक !

उपरोक्त छठे अध्याय के प्रथम श्लोक के प्रथम

चरण में हमारे अहैतुकी दयालु-कृपालु एवं जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने श्रीमुखसे हम सब जीवों को देव-दुर्लभ दैवी प्रेरणा देते हुए यथार्थ रूप में संन्यासी (त्यागी) बनने की मन्त्रणा दे रहे हैं। हम तो समझते हैं कि संन्यासी सदा-सदा के लिये सब प्रकार की क्रियाओं को छोड़ कर तथा संसार से मुख मोड़ कर बिल्कुल एकान्त एव निर्जन स्थान मे वास करना और हरि-भजन के अतिरिक्त कोई भी नाममात्र की क्रिया न करना ही संन्यास है। आह, हमारी यह चिरकाल से चलती आ रही धारणा नितान्त भ्रमसूलक एव अत्यन्त हानिकारक है। वह संन्यास तो लाखों में किसी एक-आध के ललाट में विधाता द्वारा लिखा जाता है परन्तु साधारण एवं सामान्य जीव, जो भगवान्जी एवं श्री-गीताजी के अनुयायी बनते है, उनके लिये यह संन्यास की परिभाषा अति श्लाघनीय एवं प्रशंसनीय है। आइये, भगवान्जी के इस अनमोल कथन के अनुसार थोड़ा-सा विचार-विमर्श करें :—

भगवान्जी इस चर्चित श्लोक में फरमा रहे हैं कि भले ही तुम्हारे आध्यात्मिक संस्कार न्यून हो फिर भी तुम घर-बार मे रहते हुए तथा अपना व्यापार चलाते हुए भी संन्यासी बन कर रह सकते हो। प्रश्न उठता

है—वह कैसे ? इसकी विधि यह है कि जो भी हमारे कर्तव्य कर्म (Obligatory duties) हैं, उन्हीं प्रभु-समर्पित बुद्धि से बड़े चाव एवं रुचिपूर्वक करते रहना चाहिये-केवल यह समझते हुए कि कर्मों के करने एवं करवाने वाले इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ही हैं। हम केवल उनके कर-कमलों में कठपुतली के समान निमित्तमात्र (Mere Instrument) हैं। उपकरण (Equipment) को भला क्या कोई अपनी इच्छा होती है ? उसे तो स्वामी जैसे चलाना चाहे चला सकते हैं। उपकरण आदर एवं प्रेमपूर्वक उनकी आज्ञा का पालन करता हो जाता है। उसके लिये अपने स्वामी का संकेत ही पर्याप्त है। अमुक-अमुक क्रिया का उसे क्या फल मिलेगा अर्थात् फल इष्ट होगा या अनिष्ट, लाभ में होगा या हानि में, शुभ होगा या अशुभ, प्रिय होगा या अप्रिय तथा अनुकूल होगा या प्रतिकूल इसकी उसे रञ्चकमात्र भी चिंता नहीं क्योंकि वह अपने आपको अपने स्वामी के चरणों मे पूर्णरूपेण समर्पित कर चुका है। अतः इस पूर्णसमर्पणके पश्चात् हानि हो तो स्वामी की और लाभ हो तो भी स्वामी का। उपकरण को भला इससे क्या ! भगवान्‌जी उपरोक्त अनमोल कथन मे अपने श्रीमुख से इस बात को सुस्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जिससे जो कुछ हो सकता है—तत्परता,

श्रद्धा एवं संयमपूर्वक करने चलो, करते चलो तथा करते-करते बढते चलो, बढ़ते चलो। अपने द्वारा की गई क्रियाओं पर तनिकमात्र भी सोचो मत। इसका क्या परिणाम होगा—इसकी ओर तुम्हारी दृष्टि कदापि-कदापि नही जानी चाहिये। जिसकी ऐसी निष्ठा बन चुकी है, भगवान्‌जी की दृष्टि में वही यथार्थ त्यागी है, संन्यासी है, महात्मा है तथा वही उच्चकोटि का निष्काम कर्मयोगी है। वही, सचमुच वही कुछ ही समय में इस निष्ठा से कर्म करता हुआ नाना प्रकार के संस्कारों को धो कर अपने अन्त.करण को शुद्ध बना लेता है तथा अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज के पुनीत, पावन एव मुक्त कर देने वाले देवदुर्लभ दर्शनों का अधिकारी बन जाता है। यथार्थ संन्यासी का तो रोम-रोम पुकार कर अपने को तथा अन्य कर्मयोगियों को सुना रहा होता है—

'काम जो करना हो हम को,
फिकर हो उस काम की।
ख्वाइशें बेकार हैं,
तकलीफ़ की आराम की॥'

जय भगवत् गीते !

—**—

(६६)

* सङ्कल्पहीन–योगप्रवीन *

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥
गीता—६/२

अर्थ—हे अर्जुन ! जिसको संन्यास कहते हैं, उसी को तू योग जान । क्योंकि सङ्कल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ।

–अर्थात्–

'वह योग ही समझो जिसे संन्यास कहते हैं सभी ।
संकल्प के संन्यास बिन बनता नहीं योगी कभी ॥'

'घर-बार को छोड़ कर त्यागी बन गये मीत ।
संकल्प-विकल्प छोड़ा नहीं, व्यर्थ गई यह प्रीत ॥'

विचारशील गीतानुयायी पाठक !

उपरोक्त श्लोकके उत्तरार्द्ध में हमारे यथार्थ रूप में गाइड, फ्रेंड तथा फिलासफर भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज अपने श्रीमुखसे हम सब श्रद्धालु अनुयायियोंको यह अत्यन्त उपयोगी चेतावनी दे कर सतर्क एवं सजग

कर रहे हैं कि यथार्थ त्याग एवं संन्यास घर-बार से सदा-सर्वदा के लिये अलग हो जाना ही नही और न ही दण्ड, कमण्डलु धारण करने मे ही है अपितु जन्म-जन्मान्तरो से मनमे स्थित राग-द्वेष एवं दूषित संस्कारों को विवेक एवं वैराग्य के द्वारा उन्मूलन करने में है। सर्वप्रथम हमें नित्य-अनित्यमें भली प्रकार भेद करते हुए तथा नित्य एवं शाश्वत परमात्मा की ओर अपने मनको पूर्णरूपेण लगाकर अनित्य एवं अत्यन्त दुःखदायी संसार के समस्त नाम-रूपो से अपने बावरे एव अवारा मन को खीच कर अन्तर्मुखी कर देने मे है। यही उच्चकोटि का विवेक है तथा क्रियान्वित एवं व्यावहारिक रूप मे लाया हुआ विवेक ही 'विराग' के शुभ नाम से पुकारा जाता है। इन्ही विवेक एवं विराग के पूर्ण आश्रय से साधक अपने मन के समस्त सङ्कल्प-विकल्पो, चिंताओ एवं आशाओ को सदा-सर्वदा के लिये अपने अन्तःकरण से बाहर निकालने में सराहनीय एवं अनुकरणीय सफलता प्राप्त कर लेता है।

इसके अनन्तर मन में संसार सम्बन्धी नाम-रूपों का कोई विशेष महत्त्व नही रहता। होना भी नही चाहिये क्योंकि अज्ञानता मे ही हमने सदा परिवर्तन एवं नाशवान् प्राणी-पदार्थों को नित्य एवं सुखदायी

समझ कर इसी भयंकर भूल (Bulnder) से महत्ता (Importance) बढाई हुई है। महत्ता एवं यथार्थ सत्ता तो परमात्मा की ही है कि जिसके कारण से संसार के समस्त नाम-रूप टिके हुए हैं, जिन की दिव्य प्रेरणा से अपना-अपना निर्धारित कार्य कर रहे हैं तथा अपना निर्धारित कार्य कर चुकने के पश्चात् जिस अविनाशी भगवान्‌जी की सत्ता में विलीन हो जाते हैं। जैसे जल का बुद्बुदा जल से ही बनता है, जल पर ही स्थित रहता है और कुछ क्षण स्थित रहने के पश्चात पुनः जल में ही विलीन हो जाता है। जल के अतिरिक्त बुद्बुदेकी अपनी कोई सत्ता व महत्ता न थी, न है और न ही होगी। ठीक इसी प्रकार इस विचित्र एवं अद्भुत संसार के समस्त नाम-रूप परमात्मा की सत्ता से बनते हैं, उन्ही की सत्ता मे टिके हुए हैं तथा अपनी जीवन-अवधि समाप्त कर चुकने के पश्चात उसी शाश्वत परमात्मा की सत्ता में तल्लीन हो जाते हैं। अतः योगी इस रहस्य एवं सत्य को परोक्ष रूप मे अथवा सम्यक् प्रकार से जान कर संसार सम्बन्धी समस्त सङ्कल्प-विकल्पोंका त्याग कर देता है क्योंकि ये सङ्कल्प-विकल्प निराधार एवं व्यर्थ के होते हैं। ये सङ्कल्प-विकल्प काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार आदि नकारात्मक

(६७)

※ मन शान्त–योग सुखान्त ※

—※※—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारुढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।

गीता—६/३

-अर्थ-

योग में आरूढ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिये योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ़ हो जानेपर उस योगारूढ़ पुरुष का जो सर्व संकल्पो का अभाव है वही कल्याण मे हेतु कहा जाता है।

—※※—

'जो तू चाहे योग करो, मन को कर ले शान्त।
सङ्कल्प-विकल्प के कारणे, योग होवे दु:खान्त ॥'

प्रिय बड़भागी गीतानुयायी साधक !

भगवान्‌जी उपरोक्त छठे अध्याय के तीसरे श्लोक के उत्तरार्द्ध में अपने श्रीमुख से फरमा रहे हैं कि यदि साधक के मन में अपने कल्याण एव मुक्ति प्राप्त करने की तीव्र लालसा उत्पन्न हो चुकी है तो उसे जिस किसी भी अनुकूल साधन को जुटाकर अपने मन में उठ

रहे संकल्प-विकल्पात्मक ज्वार-भाटा को सदा-सर्वदा के लिये समाप्त करना होगा।

—स्मरण रहे—

जब तक मन का कोलाहल समाप्त नही हो जाता तब तक साधक योग के मार्ग में कोई ठोस उन्नति नही कर सकता। उन्नति तो एक ओर रही, कुछ दिन अभ्यास करने के पश्चात् योग से विमुख हो जाता है और वह पहले की तरह संस्कार-अभिमुख हुआ-हुआ अपने अन्तःकरण को संस्कारो से भरने लगता है। अतः सर्वप्रथम साधक के लिये अनिवार्य हो जाता है कि वह अपने आपको भगवान्‌जी की ओर लगाता हुआ, उनकी प्राप्ति को जीवन का एकमात्र उद्देश्य बनाता हुआ हर परिस्थिति एवं दशा का डट कर मुकाबला करने के लिये कमर कस ले। इस दृढ निश्चयके पश्चात् फिर वह संसार के समस्त नाम-रूपो एवं उनके झमेलों से अपने मन को उपराम करता चला जायेगा। यह उपरामता बहुत शीघ्र ही वैराग्य का रूप धारण कर लेगी। इस उच्चकोटि की वैराग्य की अवस्था मे मन संसारकी नाना प्रकार की विक्षेपता उत्पन्न करनें वाली नकारात्मक वृत्तियोसे बिल्कुल स्वतन्त्र होकर अन्तर्मुखी हो जायेगा। इस सराहनीय अवस्था में न कोई उसकी

कामना रहेगी, न वासना और न ही कोई लोकैषणा। अब मन अपने से ही उत्पन्न होने वाली विक्षेपता को त्याग कर दिन-प्रतिदिन सुस्थिर, शान्त एवं निश्चल हो जायेगा। बस इसी अवस्था में हमारे भगवान्‌जी संकेत करते हुए फरमा रहे हैं कि कोई भी बड़भागी और अहोभाग्यशाली साधक योग की नाना प्रकार की मञ्जिलों को सहर्ष एवं पूर्ण उत्साहपूर्वक पार करता हुआ, देव-दुर्लभ दिव्य दर्शनो का अधिकारी बन जायेगा। केवलमात्र शर्त है अपने अन्तःकरण को पूर्ण रूपेण निःसङ्कल्प करने की। अतः भूलना नहीं—

'दर्श चाहे जो प्रभु का, विक्षेपता मन की छोड़।
संसार से नाता तोड़ कर, हरि से नाता जोड़॥'

-फलतः-

हमारे जगद्‌गुरु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज अपने श्रीमुख से फरमा रहे हैं—

'योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।'

-अर्थात्-

'हो योग में आरूढ, उसका हेतु उपशम धर्म है।

—※※—

जय भगवद् गीते!

जय भगवद् गीते!!!

(१८)

* सङ्कल्परहित—योगसहित *

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारुढ़स्तदोच्यते ॥

गीता—६/४

अर्थ—जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगो में और न कर्मो में ही आसक्त होता है, उस काल में सर्व सङ्कल्पो का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

—अर्थात्—

'जब दूर विषयों से, न हो आसक्त कर्मों में कभी।
संकल्प त्यागे सर्व, योगारूढ़ कहलाता तभी ॥'

अहोभाग्यशाली गीता-पाठक !

"योगारूढ़ होना चाहे चिन्ता को तू छोड़ ।
एकाग्रता तब बनेगी सङ्कल्प-विकल्प निचोड़ ॥"

हमारे परम हितैषी जगत्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में साधक को दिन दोगुनी रात चौगुनी उन्नति का एक अचूक साधन बतला रहे हैं और वह है यथाशीघ्र सङ्कल्प-विकल्प से अन्तःकरण को रिक्त कर देना । सङ्कल्प-विकल्प शून्य

अवस्था में ही मन पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी हुआ-हुआ अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को ओर द्रुत गति से अग्रसर हो सकता है अन्यथा सब साधना चौपट हो कर रह जाती है। अतः यहाँ यह समझना आवश्यक हो जाता है कि जन्म-जन्मान्तरो से पीछे पडे सङ्कल्प-विकल्पो से पीछा छुडाया जाये तो कैसे! हमारे जगद्गुरु भगवान्‌जी ने छठे अध्याय में इसका अनमोल उपाय इस प्रकार बतलाया है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

गीता—६/३५

—अर्थात्—

है अभ्यास और विराग में यह कमाल,
दिल आ जाये काबू में कुन्ती के लाल।

तीव्र विवेक एवं वैराग्य के फलस्वरूप विषयानुगामी मन यथाशीघ्र आत्मानुगामी किया जा सकता है। श्रीगीताजी के अनमोल एवं अद्वितीय शिक्षानुसार इस के अतिरिक्त और कोई उपाय नही हो सकता। अत. बड़े धैर्यपूर्वक विवेक और विराग का पूरा-पूरा सहारा लेते हुए अपने हठी तथा विषयोन्मुख मन को प्रभु-परायण करने मे भागीरथ पुरुषार्थ करना ही चाहिये।

साधक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि

शीघ्रातिशीघ्र अपने संसार-सम्बन्धी सङ्कल्प-विकल्पोंको व्यर्थ और निरर्थक समझते हुए अपनी आयुके अनमोल समय को बचा कर श्रीगीताजी के अनुसार ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग किसी एक मे पूरी तरह तत्पर हो जाना चाहिये। यदि इन तीन योगो में कोई बड़ी बाधा है तो वह है मनको इधर-उधर भगाते रहना और अपने प्रभु के चिन्तन में स्थिर न करना। इस मन को सदा-सर्वदा के लिये रोकने का उपाय करना। इस मन को सदा-सर्वदाके लिये रोकने का उपाय भगवान्‌जी के अनमोल शब्दों में यही है कि विवेक और विराग का सहारा लेते हुए इसे अन्तर्मुखी बनाना चाहिये। यथा—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

गीता—६/२६

—अर्थात्—

मन इन्सान का चञ्चल है और बेकरार,
रहे दौड़ता भागता बार-बार।
यह भागे तो बाग इसको झट मोड़ दे,
हिफाज़त में फिर रूह की छोड़ दे ॥

साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह दिन-भर अपने मन का पैनी दृष्टि से निरीक्षण करता रहे कि मन बार-बार नाम-रूपों का ही चिन्तन न करता रहे

अपितु नाम-रूपोंके मुख्य कारण आत्मा किंवा परमात्मा का ही चिन्तन करता रहे। जब मन बारम्बार समझाने पर भी अपना पुराना स्वभाव सङ्कल्प-विकल्प करने का न छोड़े तो भगवान् के श्रीमुख से निकले हुए ये उत्तम बोल कोड़े (Hunter) की तरह अन्तःकरण पर ज़ोर-ज़ोर से जमा दे—

अनित्यम् असुखम् !

अनित्यम् असुखम् !!

अनित्यम् असुखम् !!!

—⁂—

भजस्व माम् ! भजस्व माम् !! भजस्व माम् !!!

—अर्थात्—

तुझे दुःख की दुनियाँ-ए फ़ानी मिली,

तू कर सच्चे दिल से परस्तिश मेरी।

मन के सङ्कल्प-विकल्पों का यह बहुत ही कल्याण-कारी तथा अचूक साधन है। अतः यथा सम्भव इसे अपनाने की पूरी-पूरी चेष्टा करनी चाहिये। जब अपनी ओर से भरसक पुरुषार्थ किया जायेगा, सङ्कल्प-विकल्प को रोकते हुए अपने मन को आत्मस्वरूप में केन्द्रित करने का, तब कोई कारण नहीं कि हमें सफलता न मिले। भारतीय कवि कितने रोमाञ्चकारी शब्दों

में हमारा उत्साहवर्द्धन करते हैं—

कदम चूम लेती है खुद आ के मञ्जिल।
मुसाफिर अगर अपनी हिम्मत न हारे॥

—※※—

हिम्मत करे इन्सान तो क्या हो नहीं सकता।
वो कौन-सा उकदा है जो वा हो नहीं सकता॥

और फिर यह बात तो है ही कि—

'हिम्मत-ए मर्दां मदद-ए खुदा।'
(God helps those who help themselves.)

☞ भगवान् उनकी सहायता करते हैं जो अपनी सहायता आप करते हैं।

जय भगवत् गीते!

※ गीता-गौरव ※

"गीता उच्चतम दर्शनो को मथ कर निकाला हुआ माखन है, जीवन-यापन का सर्वश्रेष्ठ नियम है, अन्धो के लिये आँख और पंगुओ के लिये पाँव है, असहायो के लिये सहाय और निर्बलों का बल है।"

(६६)

उत्थान एवं पतन

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

गीता-६'५

अर्थ—अपने द्वारा अपना संसार-समुद्र से उद्धार करे और अपने को अधोगति में न डाले, क्योंकि यह यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

—अर्थात्—

'उद्धार अपना आप कर, निज को न गिरने दे कभी।
नर आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी॥'

गीतानुयायी मननशील प्रिय पाठक !

उत्थान पतन का राज यह, समझो मेरे भाई।
आत्मदर्शी मित्र है, परवशी पूर्ण सौदाई॥

जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज इस अत्यन्त कल्याणकारी श्लोक (६।५) द्वारा यह रहस्य की बात प्रगट कर रहे हैं कि पञ्चभौतिक संसार में कौन अपना मित्र है और कौन अनजाने रूप में अपने साथ शत्रु का-सा व्यवहार कर रहा है। हमारे अहैतुकी

हितैषी भगवान्‌जी इसे सुस्पष्ट करते हुए उक्त कल्याण-कारी श्लोक में समझा रहे हैं कि जिस मानव ने अपने मन किंवा अन्तःकरण का उत्थान किया है अर्थात् अपने अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तरों से स्थित नाना प्रकार की त्रुटियों, संस्कारों, विकारो एवं नकारात्मक वृत्तियों को प्राणपनसे बाहिर निकाल दिया है, अन्तः-करण पर बडे हृष्ट-पुष्ट इन दो मल्लों अर्थात् विवेक एवं विराग का सदा-सर्वदा के लिये पहरा बिठा दिया है और अब किसी भी दूषित वृत्ति को भीतर नही घुसने देता वह दिन-प्रतिदिन आध्यात्मिक उत्थान की ओर निर्बाध गति से बढ़ता चला जायेगा। निःसन्देह, तब तक बढ़ता ही चलता जायेगा जबतक कि वह अपने सच्चिदानन्द दिव्य—स्वरूप आत्मा में तल्लीन नही हो जाता।

—विपरीत इसके—

वह मानव मानव न होकर सचमुच दानव ही समझना चाहिये जो इन नकारात्मक वृत्तियों को अपने अधीन न करके दिन-प्रतिदिन इन दुखदायी एवं क्लेश-वर्धक दूषित वृत्तियोके अधीन होता चला जा रहा है। वह अपने-आपको अनजाने रूप मे पतन के गहरे गर्त गिरा रहा है जहाँ गिर कर कई जन्मो तक भी उठना उसके लिये अति कठिन हो जायेगा। ऐसा मन्दभागी

अपने साथ अत्यन्त शत्रुता कमा रहा है अर्थात् जैसे कोई शत्रु अपने वैरी के प्रति अत्यन्त दु:खदायी षड्-यन्त्र रचकर उसका विनाश करने की भरसक चेष्टा करता है। बिलकुल इसी प्रकार ऐसा मनमुखी जीव ऐसे दूषित विचार करता रहता है तथा इन्द्रियानुगामी विचारों के अनुसार अत्यन्त बुरे कर्मों में रचा-पचा रहता है जिसके फलस्वरूप उसे अपना भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय दीखने लगता है। सचमुच, अपने द्वारा यह मानव रूप में दानव स्वयं ही नाना प्रकार के कष्टों, क्लेशों, दु:खों एवं असाध्य रोगों को आमन्त्रित करता रहता है।

अत: हमारे महापुरुष सार रूपमें कहा करते हैं—

अन्तर्मुखी सदा सुखी,

मनमुखी सदा दु:खी।

हम साधकों को भगवान् जी की यह चेतावनी सदा-सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये—

मानव स्वयं ही अपना मित्र है,

—तथा—

स्वयं ही अपना शत्रु है।

पढ़ो, समझो और अपनाने का पूरा-पूरा प्रयास करो।

—❀—

(१००)

* स्ववशी मित्र-परवशी शत्रु *

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

गीता—६ ६

अर्थ—जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियो सहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्मा का तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में वर्तता है।

-अर्थात्-

जो मन अपना वश करे उसे मित्र तू जान ।
जो मन के अधीन है, निश्चय शत्रु मान ॥

प्रिय गीतानुयायी पाठक !

हमारे परम हितैषी प्रातः स्मरणीय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज अपनी अलौकिक एवं अद्वितीय श्रीगीताजी के छठे श्लोक में अपने श्रीमुख से फरमा रहे हैं कि जिसने संसार के समस्त प्राणी-पदार्थों को परिवर्तनशील, अनित्य, असत्य एव अत्यन्त दुःखदायी समझ

कर सुख की आशा हटा ली है तथा अब पूर्णरूपेण इन्द्रियों और उनके विषयो से स्वतन्त्र हुआ-हुआ अन्तर्मुखी हो गया है और सदा नाम-जाप, स्मरण, चिन्तन और ध्यान में ही अपने जीवन का अनमोल समय व्यतीत करता हुआ विवेकी और विरागी बना रहता है तथा 'युक्ताहारविहार' से अपना समय व्यतीत कर रहा है उसे न किसी से राग-द्वेष, न किसी से वैर-विरोध, न किसी से किसी प्रकार का स्वार्थ; न ही कोई इच्छा और वासना की पूर्ति का विचार; न मान-अपमान की चिंता; न लोगों की सङ्गति करने की रुचि और न ही घूमने-फिरने की चाहना; न परिग्रह का भाव और न ही देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की व्यर्थ की चिंता! वही, सचमुच वही बड़भागी और अहोभाग्यशाली देव पुरुष अपनी इन्द्रियों और मन को वश मे कर चुका है और नवद्वार की इस शरीररूपी राजधानी मे बडे सुख और चैन का जीवन गुजार रहा है तथा साधारण जीवो के लिये भी उसका जीवन एक आदर्श और उदाहरण है। निःसन्देह, मानवता का साकार रूप हुआ-हुआ दूसरों के लिये शानदार नमूना भगवान्‌जीके अनमोल शब्दों के अनुसार वह अपना हितैषी, बन्धु और मित्र है।

–क्योंकि–

वह अपनी अनमोल तथा निश्चित अनमोल श्वासों को सफल करता हुआ मानवता की चरम सीमा–प्रभु-प्राप्ति के ध्येय को पूरा कर चुका है। धन्य है उसका जीवन, उसके अपने लिये भी और सार्वभौम रूप से समाज के लिये भी।

इसके विपरीत वह व्यक्ति जिसका मन इन्द्रियों के अशुभ विषयों में लगा हुआ विषयानुगामी बन गया है तथा दिन-रात नाना प्रकार के विषयों को बटोरते हुए जघन्य पाप किये जा रहा है और इस प्रकार अपने अन्तःकरण पर दूषित संस्कार डालते हुए अनजाने रूप में अनेक जन्मों का बीज डाल रहा है। यह मन्दभागी मानव काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहङ्कार, निंदा, मत्सर तथा इसी प्रकार की अन्य दूषित और अत्यन्त हानि-कारक नकारात्मक वृत्तियों के अधीन होता हुआ अपने अनमोल जीवन को व्यर्थ खो रहा है तथा अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिये अत्याचारी और दुराचारी बन कर मानव-जाति के लिये एक बहुत बड़ा शाप सिद्ध हो रहा है। ऐसा कदाचारी और आततायी मानव अपने साथ शत्रु जैसा व्यवहार ही कर रहा है। परन्तु साथ-ही-साथ मानव समाज को भी अपने

दूषित निर्णयों, अशुभ विचारों और दुष्कर्मों से अत्यन्त हानि पहुँचा रहा होता है। ऐसा मूढ पुरुष इस धरती का कलङ्क मानव रूप में दानव सिद्ध हुआ-हुआ अपने तथा समाज के लिये अत्यन्त शत्रु सिद्ध हो रहा है। ऐसे खोटी किस्मत वाले मानवों के लिये ही भगवान्‌जी ने सोलहवें अध्याय में कहा है—

'प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिता'

गीता—१६/६

—अर्थात्—

अदू बन के दुनिया में आते रहे,
जहाँ में तबाही मचाते रहे।

अतः ऐसे दुराचारियों तथा मनमुखियों से साव-धान! सावधान!! भगवान्‌जी फरमा रहे हैं—

'जो जीत लेता आपको,
वह बन्धु अपना-आप ही।
जाना न अपने को स्वयं,
रिपु-सी करे रिपुता वही॥'

(१०१)

* मन समाप्त-प्रभु प्राप्त *

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

गीता—६/७

अर्थ—सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुषके ज्ञान में सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के सिवा अन्य कुछ है ही नही ।

—अर्थात्—

'सब कुछ हेच है मैं सच कहता हूँ,
शहनशाही है जो दिल पर हकूमत रखे ।'

प्रिय गीतानुयायी मननशील प्रेमी पाठक !

उपरोक्त छठे अध्याय के सातवे श्लोक के पूर्वार्द्ध में हमारे वन्द्य जगद्गुरु भगवान जी अब सार रूप में अपने श्रीमुख से फ़रमा रहे हैं कि मन पर जो साधक पूर्णरूपेण निग्रह कर लेता है अर्थात् संसार के समस्त प्रलोभनों एवं नाम-रूपों से अपने-आपको विवेक एवं विराग के सहारे से खीच लेता है, उसी बड़भागी का

मन सदा-सर्वदा के लिये प्रशान्त एवं सुस्थिर होकर अपने ही भीतर अपने इष्टदेव की अथक खोज में जुट जाता है। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख एवं मान-अपमानादि द्वन्द्वों से पूर्णरूपेण अतीत हुआ-हुआ वह बड़े उत्साह एवं लगनता से साधना में जुटा हुआ दिखाई देता है।

इस सराहनीय एवं अनुकरणीय उच्चकोटि की अवस्था में उसका मन संसार के समस्त संकल्प-विकल्पों चिन्ताओं एवं नाना प्रकार की वासनाओं से रहित हुआ-हुआ अन्तर्मुखी हो जाता है। इस आध्यात्मिक साधना के अतिरिक्त उसे और कुछ भी नही सुहाता।

—क्योंकि—

वह बड़भागी जिज्ञासु यह बात भली प्रकार धारण कर चुका होता है कि प्रभु-प्राप्ति के अतिरिक्त उसको कहीं से भी स्थायी शान्ति प्राप्त नही हो सकती और वह प्रभु के दिव्य-दर्शनों के अतिरिक्त किसी भी उपाय से अपना जीवन सफल नही कर सकता। इस तथ्य एवं रहस्य को भली प्रकार समझ लेने के पश्चात् अब वह अहर्निश भगवान्‌जी द्वारा बतलाये गये योग का सहारा लेकर दिन-प्रतिदिन उन्नति के शिखर पर चढ़ता ही चला जाता है।

ऐसे भाग्यवान् एवं पुण्यवान् की पीठ ठोंकते हुए

गीतागायक भगवान्‌जी कितने उत्साहवर्द्धक शब्दों में फ़रमा रहे हैं—

युञ्जन् एवम् सदा आत्मानम् योगी नियतमानसः।
शान्तिम् निर्वाणपरमाम् मत्संस्थाम् अधिगच्छति॥

गीता—६/१५

—अर्थात्—

अगर योग को यूँ कमाता रहे,
तो मन उसका काबू में आता रहे।
सकूँ आत्मा में समा जायेगा,
वही मेरा निर्वाण पा जायेगा॥

अब न वह काम का अनुभव करता है न क्रोध-मोह का, न लोभ-अहंकार का और न ही किसी अन्य नकारात्मक वृत्ति का। मानो उसके लिये संसार की समस्त नकारात्मक वृत्तियाँ सदा-सर्वदा के लिये भस्मीभूत हो चुकी हों। अपनी इस प्रशान्तावस्था को वह क्या ही सुन्दर शब्दों में प्रगट करता है—

पहले यह मन काग था करता जीवन घात।
अब तो यह हँसा भया मोती चुग-चुग खात॥

कितनी सराहनीय एवं अनुकरणीय मानसिक दशा है यह! प्रिय पाठक! क्या आप अपनी ऐसी अवस्था बनाने के लिये लालायित न हो उठेंगे? क्या आप अपनी ओर से इस उत्तमावस्था को प्राप्त करने के लिये भरसक चेष्टा करेंगे?

कृपया सोचो, समझो और करो!

(१०२)

* योगयुक्त के लक्षण *

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

गीता—६/८

अर्थ-जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भली-भाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्-प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है ।

—अर्थात्—

'कूटस्थ इन्द्रियजीत जिसमें ज्ञान है विज्ञान है ।
वह युक्त जिसको स्वर्ण, पत्थर, धूल एक समान है ॥

प्रिय गीतानुयायी पाठक !

हमारे अहेतुकी कृपालु जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज उपरोक्त श्लोक द्वारा योगयुक्त योगी के लक्षण बतलाते हुए समझा रहे है कि वह—

(१) ज्ञान-विज्ञान से तृप्त हो,

(२) कूटस्थ हो,

(३) संयमी हो,

(४) ढेला, पत्थर और सोने को एक समान समझने वाला हो,

निःसन्देह, परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति तो आत्मनिष्ठ गुरुदेवजी की शुभ एवं पावन सङ्गति से कुछ ही समय में प्राप्त हो जाती है तथा शास्त्रों का श्रद्धा एवं लगनतापूर्वक स्वाध्याय करने से परोक्षज्ञान और भी गहन हो जाता है ।

—परन्तु—

इस परोक्ष ज्ञानसे ही बात बनती नही क्योंकि मल, विक्षेप और आवरण—अन्तःकरण के ये दोष बने ही रहते हैं। ये तीनों दोष सदा-सर्वदा के लिये भस्मीभूत होते हैं, केवल अपरोक्ष ज्ञान से, और वह होता है बड़े उत्साह एवं प्रेमपूर्वक कई वर्षो तक निदिध्यासन करते रहने से। इसी को हमारे भगवान् जी विज्ञान के नाम से पुकार रहे हैं। विज्ञान अवस्था (अपरोक्ष ज्ञान) में साधक सिद्ध हुआ-हुआ अपने ही स्वरूप आत्मा में सदा-सर्वदा के लिये तृप्त होकर शान्त हो जाता है। इस उच्चकोटि की अवस्था मे अब वह ससार में अवशेष दिन कूटस्थ (Indifferent) होकर व्यतीत करता है अर्थात् इस द्वन्द्वात्मक लोक में उसे किसी भी द्वन्द्व से रञ्चकमात्र भी कोई प्रयोजन नही होता। चाहे कैसी

भी परिस्थितियां हो, चाहे किसी प्रकार की दशा हो और चाहे प्रिय या अप्रिय घटना घटे, उसके लिये सब एक समान है।

—क्योंकि—

अब इस उच्चकोटि की अवस्था मे उसकी वृत्ति आत्मा को छोड़कर बाहिर नही जाती। सचमुच, ऐसा विज्ञानी तमाशाई बना हुआ अपने जीवन के अवशेष दिन जैसे कैसे ढो लेता है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ अब पूर्णरूपेण संयम-नियम में रहकर सब प्राणियो की भलाई के लिये अहर्निश लगी रहती है। भीतर-बाहर अब वह सदा-सर्वदा समता मे ही रहता है अर्थात् सुख-दुःख, मान-अपमान; हानि-लाभ, सर्दी-गर्मी; सयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु और प्रिय-अप्रिय इत्यादि सब प्रकार की घटनाओ मे वह अपने संतुलन को नही खोता। इस तृप्तावस्था में उसके लिये मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण कोई महत्ता नही रखते क्योकि वह अपने इष्टदेव किंवा आत्मा से बढ़कर और किसी प्राणी-पदार्थ को महत्ता नही देता। जिसकी इस प्रकार की उच्चकोटि की अवस्था बन चुकी होती है हमारे पथ-प्रदर्शक भगवान्‌जी उस बड़भागी एव अहोभाग्यशाली योगी को युक्त कह रहे है अर्थात् अब वह सिद्धावस्था

को प्राप्त हो चुका होता है। सक्षेप रूपमें यही हैं योग-युक्त योगी के लक्षण !

हम भी तो भगवान्जी के इस अनमोल कथनानु-सार अपने-आपको बड़ी गम्भीरतापूर्वक टटोला करें कि क्या हम गीता पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाले, ऐसी उच्चकोटि की अवस्था के निकट पहुँच रहे है या नही ! पढो, समझो और अपनाने का पूरा-पूरा प्रयास करो।

जय भगवत् गीते !

★ गीता-गौरव ★

"गीता भारतीय साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न है।"

—❋❋—

"साधन-मार्ग में जितनी विघ्न-बाधाये आती है, उतनी स्पष्टत: साधक के सामने रखकर समस्त आधि-व्याधियो का साहसपूर्वक सामना कराते हुए उन्हें दूर कराना, जीवन-ज्योति को लक्षित करा कर उसी के सहारे आगे बढाना एवं इस प्रकार एक दिव साधना को पूर्णता प्राप्त करा देना ही गीता का ध्येय है।"

—❋❋—

(१०३)

* समबुद्धिः विशिष्यते *

सुहृद् मित्र अरि उदासीन मध्यस्थ द्वेष्य बन्धुषु ।
साधुषु अपि च पापेषु समबुद्धिः विशिष्यते ॥

गीता—६/९

अर्थ—सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणों धर्मात्माओं और पापियों में भी समान भाव रखने वाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

—अर्थात्—

'वैरी, सुहृद, मध्यस्थ, साधु,
असाधु, जिनसे द्वेष है ।
बान्धव, उदासी, मित्र में,
समबुद्धि पुरुष विशेष है ॥'

—❀❀—

गीतानुयायी मननशील प्रिय पाठक !

हक़ीकत जरा होशमन्दी से देख ।
बराबर हैं सब घर बलन्दी से देख ॥'

इस अतिविचित्र एवं अद्भुत ससार के रचयिता हमारे इष्टदेव भगवान्‌जी ने इस विश्व मे भिन्नता-ही-भिन्नता बनाई है । सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल,

मित्र और-शत्रु, अपना और पराया बनानेमें भगवान्‌जी ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। यदि मनुष्य इस भिन्नता को ही सत्य मान कर अपना दैनिक व्यवहार जारी रखता है तो वह कभी भी जीवन में सफल मनोरथ नहीं हो सकता; क्योंकि भिन्नता, पृथक्ता और विषमता केवल प्रतीतिमात्र है, यथार्थ नहीं। प्रतीति तो प्रतीति ही रहेगी, यथार्थता का स्थान कभी नहीं ले सकती। प्रतिबिम्ब को ही सब कुछ समझने वाला क्यों न उदास, हताश और निराश होता रहे!

अब प्रश्न उठता है कि इस कौतुकी संसार में यथार्थता क्या है? यथार्थता वही मानी जाती है जो सदा रहे, जिसमें रञ्चकमात्र भी विकार और परिवर्तन न आये और न ही आने की सम्भावना हो। महापुरुषों की इस कसौटी पर यदि संसार को परखा जाये तो यह सब-का-सब भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जिसके भाग्य का अरुणोदय हो रहा है वह इस अति विचित्र संसार के 'भ्रम' में 'ब्रह्म' को अनुभव करने की भरसक चेष्टा करने लगता है और बड़ी शीघ्र ही यह अनुभव कर लेता है कि संसारके नानात्व में एकत्व है, भिन्नता में अभिन्नता है; बहु में एक है। अतः ऐसा अनुभव कर के उसका मन सुस्थिर तथा बुद्धि सदा-सर्वदा के लिये

परमात्मा में सुस्थित हो जाती है। अब किसी प्रकार की विक्षेपता उसके अन्तःकरण में नहीं रहती। बात भी ठीक है, भिन्नता का भाव न हो तो विक्षेपता कैसी? इस नानत्व में एकत्व का भाव रखने वाला मन अब सदा ही अपने इष्टदेव किंवा आत्माका चिन्तन करने लगता है। अब उसके लिये संसार का भ्रम भ्रम न रह कर ब्रह्म का स्वरूप बन जाता है। इस उच्च-कोटि की दशा तथा अनुभव अवस्था मे उसकी साधना दिन दोगुनी रात चौगुणी उन्नति के शिखर को ओर अग्रसर होने लगती है और वह अहोभाग्यशाली साधक अपने स्वरूप मे बिना विलम्ब सुस्थिर हो जाता है।

—फलतः—

हमारे कृपालु जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज उपरोक्त श्लोक द्वारा समझा रहे हैं कि जिसके लिये सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, द्वेष्य और बन्धुगण, धर्मात्मा और पापी एक समान हो चुके हो वह उनकी नजरो में विशेष अति विशेष माना जाता है। उसी की बुद्धि सुस्थिर हो चुकी है।

—अतः—

हमें भी अपनी ओरसे भरसक चेष्टा करनी चाहिये कि हम शीघ्र-अति-शीघ्र इस भ्रमात्मक, नानात्मक तथा

विषमता से पूर्ण अति दारुण और दुःखदायी जाल से अपने-आपको छुड़ाते और बचाते हुए उस एक भगवान् में अपनी वृत्ति को भली प्रकार ठहरा सके। यही तपस्वी का तप है; यही साधना की चरमसीमा है तथा यही उच्चकोटि की अवस्था है।

आइये, हम भी इस मानवता की चरम सीमा को स्पर्श करने की भरसक चेष्टा करें।

—❀❀—

जय भगवत् गीते !

—❀❀—

❀ गीता—गौरव ❀

जहाँ श्रीगीताजी का विचार, पठन और पाठन किया जाता है, वहाँ श्रीभगवान्जी सदा ही निवास करते हैं।

—❀❀—

"आओ ! आओ ! इस गीता को नित्य सङ्गिनी बनाओ, गीता का नित्य पाठ करो, पाठ करते-करते जितना हो सके इसका प्रवाह हृदय के अन्दर बहानेकी चेष्टा करो,-बड़ा कल्याण होगा।"
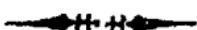
(१०४)

* योग से आत्मशुद्धि *

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

गीता—६/१२

अर्थ—उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश मे रखते हुए मन को एकाग्र कर के अन्त.करण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे।

—अर्थात्—

'एकाग्र कर मन, रोक इन्द्रिय चित्त के व्यापार को।
फिर आत्म-शोधन हेतु बैठे नित्य योगाभ्यास को ॥'

—**—

'योग की करो साधना, मन निर्मल हो जाये।
निर्मल मन ही प्रभु के दर्शन करे अघाये ॥'

—**—

प्रिय मननशील गीतानुयायी साधक !

उपरोक्त श्लोकमे हमारे जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज साधक को समझाते-बुझाते हुए प्रेरणा दे रहे हैं कि उसे तीनों योगों में से अपने मनोनुकूल

पूर्ण श्रद्धा एवं तत्परतापूर्वक एक योग को ले कर उस की, आचार्यों द्वारा बतलायी गई साधनानुसार कमाईमें बिना ऊबे हुए चित्त से, निरन्तर जुटे रहना चाहिये। स्वाध्याय का समय, मनन का समय, जाप का समय तथा ध्यान का समय निश्चित करते हुए प्रतिदिन उसमें जुटे रहना चाहिये। इस साधना में साधक तनिक भी ढील न करे या नागा न होने दे। इस प्रकार निरन्तर योग की कमाई करते हुए कुछ ही समय में वह अपने अन्तःकरण को निर्मल अनुभव करने लगेगा अर्थात् अब मनमें इधर-उधरके सङ्कल्प-विकल्प, विक्षेपता, चिंता एवं दूषित विचार नहीं आयेंगे। मन सदा शिव तथा शुभ सङ्कल्पो में ही लगा रहेगा तथा अधिकतर समय उसके अपने इष्टदेव भगवान् के चिन्तन में ही व्यतीत होगा। बार-बार उसके होठों पर यही शब्द नाचते रहेंगे—

हरि-हर हरि-हर हरि-हर हरि,
मेरी बार क्यों देर इतनी करी।

—अथवा—

'मुझ में समा जा इस तरह,
तन प्राण का जो तौर है।
जिसमें न फिर कोई कह सके,
मैं और हूँ तू और है॥'

ऐसी प्रेमभरी साधना में, भगवान्‌जी के अनमोल कथनानुसार, उसका अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार संस्कारो से रहित हो कर निर्मल, शुद्ध और पवित्र हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण ही पूर्ण एकाग्रता का लाभ करता है तथा पूर्ण एकाग्रता मे ही बड़भागी साधक ध्यान के योग्य हो जाता है और इस प्रकार का ध्यान कुछ ही समय में जीव को निर्विकल्प समाधि तक पहुँचा देता है। इस उच्चकोटि की अवस्था तक पहुँचा हुआ जीव अपने भगवान्‌जी के अति पावन और देवदुर्लभ दर्शनो का अधिकारी बन जाता है।

-इसलिये-

हम सब को अपने स्वभावानुकूल कर्म, भक्ति तथा ज्ञानयोग मे से किसी एक योग की साधना एक लम्बे समय के लिये अब अनिर्विण्ण चित्त से करने के लिये दृढ सङ्कल्प हो जाना चाहिये। तब, केवलमात्र तब ही हम अपने जन्म-जन्मान्तरो के संस्कारो से भरे हुए अन्तःकरण को शुद्ध करने मे सुचारु रूप से सफल मनोरथ हो जायेंगे।

—स्मरण रहे—

शुद्ध अन्तःकरण ही भगवान्‌जी के दिव्य दर्शनोंका अधिकारी बन जाता है। कहा भी जाता है—

'सफ़ाई पारसाई के दूसरे दर्जा पर है।'

'Cleanliness is next to Godliness.'

भगवान्‌जी के ये रोमाञ्चकारी शब्द हमें सदा ही याद रहेंगे :—

योगस् आत्मविशुद्धये !

योगस् आत्मविशुद्धये !!

योगस् आत्मविशुद्धये !!!

जय भगवत् गीते !

—**—

गीता-गौरव

"विरागी जिसकी इच्छा करते हैं, सन्त जिसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और पूर्ण ब्रह्मज्ञानी जिसमें 'अहमेव ब्रह्मास्मि' की भावना रख कर रमण करते हैं, भक्त जिसका श्रवण करते हैं, जिसकी त्रिभुवन में सब से पहले वन्दना होती है, उसे लोग भगवद्गीता कहते हैं।"

—सन्त ज्ञानेश्वरजी

—**—

गीता का स्वाध्याय करने वाले मनुष्य को आपत्ति और घोर नरक को नहीं देखना पड़ता।

—**—

(१०५)

☆ समाधि की पूर्वावस्था ☆

—※※—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

गीता—६। १४

अर्थ—ब्रह्मचारी व्रत में स्थित, भयरहित तथा भली-भाँति शान्त अन्तःकरण वाला सावधान योगी मन को रोककर मुझ में चित्त वाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।

—अर्थात्—

'बन ब्रह्मचारी शान्त, मन संयम करे भय मुक्त हो।
हो मत्परायण चित्त मुझ में ही लगा कर युक्त हो॥'

प्रिय गीतानुयायी मननशील पाठक!

जगद्गुरु भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज के उक्त श्लोकानुसार आज के इस प्रसङ्ग में हम बड़े उत्साह एवं श्रद्धापूर्वक विचार विमर्श करेगे कि निर्विकल्प समाधि से पूर्व उच्चकोटि के साधक की मानसिक अवस्था क्या होती है, जिसके फलस्वरूप वह अपने इष्टदेव के दिव्य-दर्शनों का अधिकारी बन कर साधक से सिद्ध बन जाता है और इसी जन्म में कृत-

कृत्य होकर अपने जीवन के अवशेष दिन बड़ी मस्ती, निश्चिन्त एवं शान्त मन से व्यतीत कर देता है। प्रभु जी के अनमोल कथनानुसार साधक की इस ध्यान एवं समाधि योग्य अवस्था का प्रथम चरण है—

(क) प्रशान्तात्मा

अर्थात् जिसका अन्तःकरण पूर्णरूपेण मल एवं विक्षेप से रहित होकर शांत, स्थिर एवं एकाग्र हो चुका है। ऐसे मन में अब किसी प्रकार का कोई भी विकार (Negative quality) नाममात्र को भी नहीं रहता और न ही किसी प्रकार के संसार सम्बन्धी नामरूप का संकल्प किंवा विकल्प ही उठता है क्योंकि उसने यह चिरकाल से सुदृढ कर लिया होता है—

'ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या'

—अथवा—

'अनित्यं असुखम्' गीता—९/३३

इन महावाक्य सम पवित्र वाक्यों से मन की चञ्चलता, विक्षेपता, अस्थिरता एवं भ्रमणशीलता को सदा-सर्वदा के लिये भस्मीभूत कर दिया है। अब जबकि वह ध्यानमें जम कर बैठता है, उसका मन भी तन के साथ पूर्ण एकाग्रता को लेकर अपने इष्टदेव के ध्यान में

सुस्थिर हो जाता है अर्थात् हाजर में हाजर रहता है। किसी भी दशा में हाजरमें गैर-हाजर नही होने पाता। इस उच्चकोटि की सराहनोय एवं अनुकरणीय अवस्था मे वह अपने इष्टदेव के दिव्य-दर्शनो का पूर्ण अधिकारी बन जाता है। साधक की साधना भी यही है कि वह जिस किसी भी अनुकूल उपाय से अपनें मन की विक्षेपता एवं मल को यथासम्भव भस्मीभूत करने की चेष्टा करे। कहने का अभिप्राय यह कि साधक ने केवलमात्र अन्त.करण को ही निर्मल करना होता है। इसके पश्चात् सब कुछ स्वयमेव ही बन जाता है। सचमुच भगवान्‌जी के दिव्य-दर्शनों की पूर्व-अवस्था अन्तःकरण का पूर्णरूपेण स्वच्छ एवं सुचारु रूप से निर्मल हो जाना ही है। आँगल भाषा में भी कहा गया है—

'Cleanliness is next to Godliness.'

—अर्थात्—

शुद्धता परमात्मा के पश्चात् दूसरो श्रेणी में आती है।

—फलतः—

हमें प्राणपण से अपने अन्त.करणके मल, विक्षेप, एवं आवरण को दूर करने के लिये भगवान्‌जी द्वारा श्रीगीताजी मे बतलाये गये अनमोल उपायों को अप-

जाना होगा। अतः भगवान्‌जी उपरोक्त श्लोक में फ़रमा रहे हैं कि निर्विकल्प समाधि में जाने से पूर्व साधक को सर्वप्रथम अपने अन्तःकरण की विक्षेपता को दूर करते हुए प्रशान्त एवं सुस्थिर कर लेना चाहिये क्योंकि भक्त का निश्चित एवं प्रशान्त मन ही भगवान् जी का निवास स्थान है। अतः हमें सबसे पहले अपने अन्तःकरण को निर्मल करने के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये, हो जाना ही चाहिये।

जय भगवत् गीते !

—**—

* गीता-गौरव *

"साधक की रक्षा और साध्य की प्राप्ति को 'योगक्षेम' कहते हैं। इस 'योगक्षेम' का भार मनुष्य उठाना चाहता है; पर वह असफल होता है, किन्तु वह यदि भगवान् जी का अनन्य-चिन्तन करते हुए भगवान् की उपासना करे तो उसके 'योगक्षेम' का सारा भार स्वयं भगवान्‌जी वहन करते हैं। भगवान् जी ने कहा है—

'तेषां नित्याभियुक्तानाम् योगक्षेमं वहाम्यहम्।'

गीता—९/२२

—**—

★ शोक करना व्यर्थ ★

—❀❀—

ऐ मेरे गीताज्ञानेप्सु मन !

यदि सचमुच, तुझे अपने इष्टदेव भगवान्जी के इन अनमोल एवं अत्यन्त कल्याणकारी वचनों पर पूर्ण श्रद्धा एवं निष्ठा है—

'अशोच्यान् अन्वशोचः त्वम्'

गीता—२/११

-अर्थात्-

निःशोच्य का शोक करता है तू !

तो फिर इसी समय दृढ निश्चय कर ले कि तू कैसी भी विचित्र परिस्थिति मे तथा किसी भी कारण विशेष को लेकर विषादग्रस्त नही हुआ करेगा। कुछ चिन्तन तो कर—शोक एवं विषाद किन का ? जो तेरी भूल से माने हुए स्वजन-परजन मृत्यु को प्राप्त हो चुके है, भला उनका शोक क्यो ? क्योकि वे सब-के-सब तेरे इष्टदेवकी तेरे पास थाती (अमानत) के रूप मे ठहरे हुए थे। तूने उनका खूब लाभ उठाया, परन्तु अज्ञानवशीभूत तूने उन्हे 'अपना' मान लिया था, पर यथार्थ रूप मे वे थे तो भगवान् के ही प्रयोगार्थ दिये, अब जबकि भगवान्जी ने अपनी थाती वापिस

ले लो है तो तुझे उन दयालु प्रभु का हार्दिक 'धन्यवाद' करना चाहिये कि जिन्होंने तुझे चिरकाल तक निःशुल्क उन्हें तेरे इच्छानुसार उपयोग करने का अवसर दिया। अतः शान्तिपूर्वक दोनों हाथ जोड़ कर तथा नतमस्तक होकर अपने इष्टदेव के सम्मुख कृतज्ञता प्रकट करो।

—※※—

अब तू किनकी चिन्ता किया करता है? जो जीवित हैं उनकी? वाह, क्या कहने तेरे! उनकी चिन्ता भी नितान्त मूर्खता एवं अज्ञानता है। क्योंकि तेरा प्रत्येक सगा-सम्बन्धी अपनी-अपनी प्रारब्धानुसार उत्पन्न हुआ है। जिनको तू अपना पति, पुत्र, पुत्री, पत्नी, पिता, माता एवं सहोदर-सहोदरा समझ कर इनमें किसी प्रकार के अभाव को देखकर अथवा अपने प्रति पूर्णरूपेण अनुकूल न समझ कर जो भीतर-ही-भीतर जला-भुना करता है या शोक करता रहता है—वह सब व्यर्थ तथा जीवन का अनर्थ है। ये सब प्रारब्धानुसार लेन-देन के सम्बन्धी हैं अर्थात् परस्पर ऋणी हैं। धीरे-धीरे अपना 'लेन-देन (ऋण) समाप्त करके ऐसे चले जायेंगे जैसे उषाकाल के आगमन पर वृक्ष को त्याग कर पक्षी उड़ जाते हैं। सचमुच, यह

तेरा परिवार तथा इसके स्वजन-परजन 'रैन-बसेरा' की नाईं थोड़ी देर के लिये इकट्ठे हो गये हैं, तो फिर इनका शोक क्यों ?

❀ सहन करो ! सहन करो !! ❀

इस संसार के समस्त द्वन्द्व यथा—सुख-दुःख, सरदी-गरमी, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु, मान-अपमान इत्यादि सदा गति में रहते हैं, स्थिर कदापि नहीं। अतः जो सदा चलायमान हो उसकी अनुकूलता-प्रतिकूलता में सुख-दुःख का अनुभव नहीं करना चाहिये। अरे बाबा ! ये सब तो आने-जाने वाले तथा नितान्त अनित्य हैं ! अनित्य प्राणी-पदार्थों को भला सुख-दुःख का कारण क्यों समझा जाये !! फलतः समय समयानुसार जैसी भी प्रिय-अप्रिय परिस्थितियाँ क्यों न आयें, हमें उन्हें अनित्य समझते हुए विचारपूर्वक सहर्ष सहन करने का स्वभाव बना लेना चाहिये। किसी भी दशा में अपने मनके सन्तुलनको विषम न होने दें।